संपादन

नरेंद्र निर्मोही

एकमात्र वितरक

अभिषेक पब्लिकेशंज़

चण्डीगढ़-23

○ हस्तक्षेप

○ प्रथम संस्करण: 1979
○ मूल्य : 15 रुपये

प्रकाशक :
निर्झर सहकार मंडल
3625, क्षेत्र 23-डी,
चण्डीगढ़-160023

मुद्रक :
स्टर्लिंग प्रिंटर्ज़
2-वे-शाप-कम-फ्लैट 6, सैक्टर 20-सी,
चण्डीगढ़ ।

अनुक्रमणिका

विचार पक्ष

रचनापक्ष

निर्झर सहकार मंडल

- तरसेम गुजराल
- सुरेंद्र मनन
- नरेंद्र बाजवा
- राजेंद्र मोहन धवन
- वृज मोहन सिंह
- सुवास दीपक
- प्रचण्ड
- जय सिंह आर्य
- गुरबचन सिंह
- विनोद, तिवारी
- तेजा सिंह शेरगिल
- दुनीचंद विष्ट
- नरेंद्र निर्मोही
- वृजेंद्र कुमार
- सुरेंद्र मंथन
- अवतार जौड़ा
- संग्रामसिंह ठाकुर
- महावीर प्रसाद जैन

रचना : संदर्भ और अपेक्षाएं

आज भारतीय जन-मानस प्राय: दो तरह के ढर्रों में जीवन-यापन कर रहा है।

एक तो जिसमें प्रेम, मृत्यु, अध्यात्म जैसी न हल हो सकने वाली पहेलियों को चिंतन, मनन के माध्यम से हल करने के चक्कर में वह लगातार उलझता गया है और यही उलझन उसमें हताशा, निराशा और झुंझलाहट पैदा करती है, जो उसे विरासत में मिली है। अतीत के साहित्य का अधिकांश हिस्सा नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका भेद, परी कथाओं व स्तुतिगान से भरा पड़ा है चूंकि उस समय का साहित्यकार राजाश्रित था। अधिनायक युग में जहां राजा प्रजापिता माना गया हो, उसके विरुद्ध किसी भी प्रजाजन द्वारा कही सार्थक बात विशुद्ध अवहेलना के रूप में ली जाती रही हो वहां सामाजिक परिवर्तन की बात लगभग असंभव सी हो जाती है। मर्यादा के नाम पर सही-गलत को ढोते रहने के प्रवचनों के होते सामाजिक चेतना का कुंदित होना स्वाभाविक था। यथास्थिति बनाए रखने के लिए बहुत लाजिमी है कि व्यक्ति की क्षमताओं को ऐसे मुहाने में झोंक दिया जाए जहां सरल करो सवाल की भांति पूरी दिमागी कसरत के बाद उत्तर शून्य निकले। प्रेम, मृत्यु, अध्यात्म ही ऐसे सवाल थे जहां

साहित्यकार सत्यता, अनुभव व कल्पना के घोड़े दौड़ाकर एक ओर राजा को प्रसन्न करने तथा दूसरी तरफ जनता के हितचिंतक बने रहने का स्वांग भर सकते थे। ये जनता के हित की ही तो बात थी कि उनकी बहू-बेटी प्रेम पाश में फंस या राजा की इच्छा मात्र से राजमहल की शान बन सकती थी और उसकी कई पीढ़ियां तर जातीं। लेकिन बाहरी हमलों ने जब राजाओं की सत्ता को चुनौतियां देनी शुरु कीं तो वीर गाथाएं प्रस्तुत होने लगी। वही मृत्यु भाग्यशाली मानी गयी जो जन्मभूमि या प्रजा-पिता की रक्षा में हुई हो। इस उथल-पुथल में दो संस्कृतियों का समावेश तो हुआ किंतु सामाजिक संरचना लगभग वैसी ही रही। सारी बौद्धिकता अपने-अपने धर्म की प्रतिष्ठा में जुट गयी चूंकि धर्म ने ही राजा को सर्वेसर्वा नियुक्त किया था। सारा चिंतन अध्यत्म को समर्पित हुआ। यही अध्यात्म आज भी समाज के अधिकांश हिस्से को अपनी गुफाओं में लिए बैठा है। क्षमताओं का बहुत बड़ा हिस्सा बिना ये समझे कि ये समस्याएं भी अन्तत: वैज्ञानिक आधार पर ही सुलझाई जा सकती हैं, निष्क्रिय होता जा रहा है।

दूसरी तरफ ऐसा माहौल है जिसमें व्यक्ति अपनी क्षमताओं को निरंतर विकसित करता हुआ, एक वैज्ञानिक की तरह पूर्व अनुभवों से सीखता हुआ, नए युग के निर्माण की आकांक्षा में क्रियाशील है इसी आकांक्षा का मूल स्त्रोत तत्कालीन समाज के उपेक्षित साहित्य में बखूबी ढूंढा जा सकता है। समय पाकर जब एकलव्य की गुरुदक्षिणा और गुरु की धृष्टता निचले वर्ग तक संप्रेषित होने लगी और शोषण प्रक्रिया और तीव्र हुई तो जाति प्रथा का चौखटा चरमराने लगा, जिसकी चरमरहट को सर्वप्रथम कबीर ने ही वाणी दी। उसकी खंडन मंडन की प्रवृति को लेकर भले ही अनेक अंतर्विरोध नजर आएं, यह मानने में कोई संकोच नहीं कि वह अपने समय का युगदृष्टा था। जहां उसने अपनी सारी क्षमताएं सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने में लगा दी वहीं तुलसी

दास ने पूरे समाज को 'राम चरित मानस' के माध्यम से मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अनुसरण की ओर प्रेरित कर पुन: मनु द्वारा स्थापित वर्ण व्यवस्था व अधिनायकवाद की प्रतिष्ठा की। कबीर तुलसी का साहित्य सामाजिक द्वंद्व का परिचायक है। हर क्रिया-कलाप मनुष्य की चेतना को प्रभावित करता है अत: ये दो दुनियाएं या धाराएं एक ही व्यक्ति में भी विद्यमान हो सकती हैं। साहित्य इन धाराओं में से किसे प्रश्रय दे—यही साहित्य की मूलभूत जरूरत या प्राथमिकता है।

कथा साहित्य ने हमें पुष्ट विरासत दी है चूंकि इसकी शुरुआत ही यथार्थ के सत्य तक पहुंचने से हुई थी। जब भी कथा विधा ने इस ओर से आंखें चुराने का प्रयत्न किया तभी उसे कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा। यह आलोचना आलोचकों द्वारा कम सही कथाकारों द्वारा अधिक हुई जिसकी कद्र की जानी चाहिए। इसे ही अंतिम सत्य मानकर श्रद्धा सुमन अर्पित करना या इस या उस धारा की पैरवी में ही अपनी क्षमताओं का होम कर देना बेमानी होगा चूंकि आज के समाज में आए गुणात्मक परिवर्तन को तब के साहित्य की संपूर्णता में नहीं आंका जा सकता। अपने प्रारंभिक दौर में कथा—साहित्य को कविता की तरह सीधे तौर पर या आमने-सामने होकर न तो 'वादों' में ही भटकना पड़ा और न ही पानी में आग लगाने की जरूरत महसूस हुई चूंकि प्रेमचंद, यशपाल, रेणु, अमर कांत, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कंडेय, शेखर जोशी, मुक्तिबोध, ज्ञान रंजन, इसराइल, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, मन्नू भंडारी जैसे अनेक समर्थ यथार्थवादी / यथार्थपरक रोमांसवादी कथाकारों ने एक निश्चित वैचारिक आयाम की ओर निरंतर अग्रसर रखा तो भी आंतरिक/व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति के नाम पर निष्क्रिय रोमांसवादी साहित्य भी विपुल मात्रा में रचा गया जिसे इस या उस आंदोलन के नाम पर प्रतिष्ठित करने के अनेक प्रयत्न हुए और हो रहे हैं।

साहित्य यदि अपने युग की 'सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों के सही मूल्यांकन के नाम पर कलात्मकता, शाश्वतता या अनुभव की प्रामाणिकता की दुहाई देता हुआ विशुद्ध मनोरंजक रोमांसवादी प्रवृति को प्रोत्साहन दे तो यह निश्चित है कि वह यथास्थिति बनाए रखने में ही अपनी इयत्ता मानता है। यह ठीक वैसी स्थिति है जैसे सिगरेट की डिबिया पर तो हो वैधानिक चेतावनी—धूम्रपान सेहत के लिए हानिकारक है—और साथ ही विज्ञापन हो—ताजगी व स्फूर्ति के लिए सिगरेट पीजिए। जिस तरह सुघड़ किसान के लिए ये जान लेना बहुत जरूरी होता है कि कौन से खेत की मिट्टी का रंग काला, लाल, पीला है और उसमें कौन सी फसल अधिक झाड़ दे सकेगी और कि कौन सी खाद कितनी मात्रा में डाली जानी अपेक्षित है, उस खेत की भौगोलिक स्थिति क्या है और कितनी बार हल चलाना चाहिए, उसी तरह किसी भी सामाजिक परिवर्तन की भूमिका, जिसका वाहक साहित्य भी है, तय करते समय सामाजिक स्थितियों एवं सामाजिक प्रक्रिया को उसके सही परिप्रेक्ष्य में आंका जाना चाहिए।

समग्रता मे भारतीय समाज आज भी पुराने संस्कारों की जकड़ में है, उसकी चेतना में यद्यपि कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है भी तो वह स्वाभाविक कम समयगत दबावों के तहत अधिक है। कोई भी व्यवस्था समाज को अपने अनुरुप ही ढाले रखने की भरसक कोशिश करती है। जब भी शोषण व उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठने लगती है तो वह जैसे तैसे तत्कालीन समाज को साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाकर उस आवाज से विमुख रखती है। आज की सामाजिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो चुकी है, दमन और शोषण पहले से कहीं अधिक है। असुरक्षा, आतंक निरंतर बढ़ाव पर है, न्याय प्रक्रिया इतनी जटिल है कि जब तक व्यक्ति को न्याय मिलता है उसकी सारी शक्तियां चुक गयी होती हैं। राजनीतिक अस्थिरता बनी हुई है, वर्तमान राज-नीतिक उठा-पटक ने जन साधारण में आक्रोश भरा है, उसके

विश्वास को छला है। व्यक्ति की आर्थिक क्षमता लगातार क्षीण हुई है रोजमर्रा की वस्तुएं तक उपलब्ध नही हो रहीं दूसरी ओर टाटा, बिड़ला, डालमिया की पूंजी पिछले दस वर्षो दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की करती हुई अरबों तक पहुंची है।

सन् 66-67 में असंतोष की तीव्र लहर चली थी। हड़तालें, जलूस, जलसों की गहमागहमी में कई राजनीतिक, सामाजिक सस्थाएं प्रकाश में आयीं। समाज के संतोष का पैमाना भर चुका था किंतु एक निश्चित आयाम न होने और राजनीतिक समझ के अभाव में यह लहर विद्रोह का रूप न धार सकी और दूध का उफान बन कर रह गई। यही दबा असंतोष सन् 73-74 में और भी प्रचंड रूप में सामने आया जिसका सही उपयोग तब भी न हो सका और व्यवस्था ने तशद्दद व आतक फैलाया और पूरे समाज को काले दौर से गुज़रना पड़ा।

आज भी समाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में से गुजर रहा है जरूरत उसके संस्कारों पर निरंतर चोट करते रहने और चेतना विकसित करने की है। बेलछी, आगरा, बेलाडीला, पंत नगर, मराठवाड़ा, संभल, अलीगढ़ मे हुई हाल की घटनाएं इस बात का मुंह बोलता प्रमाण हैं कि जन-साधारण अपने शोषण व अधिकारों के प्रति निरंतर सचेत हो रहा है।

किसी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए जन समूह की चेतना के उस बिंदु तक ले आना ही साहित्य का अभीष्ट है जहां से वह यह समझ सके कि उनकी अपनी क्षमताएं क्या हैं और उनका इस्तेमाल किस रूप में किसके लिए हो रहा है। क्या उनकी क्षमता समूह के काम आ रही है या मात्र कुछ व्यक्तियों के निजी स्वार्थ की पूर्ति कर रही है... और कि उसे मालूम हो कि राजनैतिक शतरंज की बाज़ी आखिर कैसे खेली जाती है। यानी उसे स्वस्थ दृष्टि देना है।

साहित्य का सृजक साहित्यकार है और सामाजिक प्राणी भी। समाज की आधारशिला विचार है और विचार के बलबूते पर ही वह अपनी बात कर सकता है। बात साहित्यकार की दृष्टि पर आ टिकती है। साहित्यकार का काम व्यक्ति की क्षमताओं के प्रति निरंतर सचेत करते रहना है। यहीं उसकी दृष्टि सकारात्मक होगी और यदि वह व्यक्ति की मात्र सीमाओं का राग अलापते-अलापते उसे भटकन की गुफाओं तक ले जाता है तो इसका सीधा सा अर्थ है कि उसकी दृष्टि नकारात्मक है। सकारात्मक दृष्टि ही स्वस्थ दृष्टि है।

साहित्यकार की दृष्टि उत्तल लैंस (Convex Lens) की तरह होनी चाहिए जहां भिन्न भिन्न दिशाओं से आई सारी सूर्य किरणें एक बिंदु में परिवर्तित हो जाती हैं। सापेक्ष दृष्टि ही समाज के प्रत्येक क्रिया-कलाप का लेखा जोखा प्रस्तुत करती उसमें परिवर्तन/परिवर्द्धन की मांग करती है। दृष्टि स्थूल नहीं होती, समय के यथार्थ के साथ साथ बदलती है। समय के यथार्थ से अभिप्राय तात्कालिक स्थितियों को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखना है। शहर के किसी तंग भीड़ भरे स्थान पर दो स्कूटरों की आपस में टक्कर हो गई है। इस पर अनेक प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं मसलन (i) गलती इस या उस स्कूटर वाले की है; (ii) सरकार को स्कूटर बनाने ही बंद कर देने चाहिएं, न स्कूटर हों और न एक्सीडैंट हों; (iii) आदमी धर्म कर्म से नाता तोड़ेगा तो असमय ही दुख कष्ट पायेगा; (iv) मूल गलती स्थान का तंग होना और भीड़ का अनियंत्रित होना है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि पहले व्यक्ति की दृष्टि यथार्थपरक स्थितिवादी है, उसने जो नज़र आया उसी से निष्कर्ष निकाला; दूसरे व्यक्ति की दृष्टि अवैज्ञानिक व यथार्थ से आंखें मूंदने की है; तीसरा कुएं का मेंढक है जो हर घटना को रूढ़िवादी ढंग से बने बनाये चौखटे में से देख रहा है; चौथे व्यक्ति की दृष्टि यथार्थ के मूल यानी यथार्थ के सत्य तक पहुंचने की है, उसने जो नज़र आया उसी से निष्कर्ष

न निकाल, यथार्थ का वह बिंदु पकड़ा जो इस घटना को जन्म देने में अत्यधिक उत्तरदायी है। यही दृष्टि यथार्थपरक है।

समाज का यथार्थ बिल्कुल वैसा नहीं जैसा हमें दिखाई देता है। उसका यथार्थ बाह्य रूप से भले ही मनुष्य के बाहरी ढांचे सा दिखाई दे कि जैसे मनुष्य का एक मुंह, दो कान, दो हाथ, दो पैर हैं ठीक वैसे ही समाज में चार जातियां, आठ धर्म, सोलह बोलियां, बत्तीस कुनबे है किंतु मनुष्य की चमड़ी के नीचे जैसे हाथों की बनावट में अनेक छोटी मोटी हड्डियों, शिराओं, धमनिओं का सांझापन है और ये धमनियां, शिराएं हड्डियां आगे किन्हीं और हड्डियों से जुड़ी हुई हैं। पेट के भीतर कितना कुछ है, रेडियो सर्कट में बिछी तारों, बल्ब. ट्यूबों जैसा। यहां आकर व्यक्ति का मुंह खुला का खुला रह जाता है। उसमें जहां पूरी सरंचना न समझ पाने की हड़बड़ाहट है वहां अपनी समझ पर कोफ्त भी। सामाजिक यथार्थ भी मनुष्य के भीतरी ढांचे सा है। इसे समझने के लिए पूरे विवेक, धैर्य व निष्ठा की आवश्यकता है।

मनुष्य के शरीर को मस्तिष्क ही पूरी तरह संचालित करता है, उस तक सभी क्रिया कलाप पहुंचते हैं, वहीं से उनकी प्रतिक्रिया निर्धारित हो विभिन्न अवयवों के माध्यम से प्रदर्शित होती है चूंकि अर्थ उत्पादन/उत्पादक संबंधों की मूल भित्ति है, इस पर जिसका नियंत्रण होगा वह उसे अपने हित में इस्तेमाल करेगा।

अतीत के इतिहास पर दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि शताब्दियों से राजाओं, वजीरों ने पूरी प्रजा को अपने शिकंजे में जकड़े रखा चूंकि अर्थ उनके कब्जे में था। दासों की खरीदो-फरोख्त होती रही। यदि नियंत्रण किन्हीं चंद हाथों तक सीमित

रहता है तो बाकी पूरे समाज के श्रम की शोषण प्रक्रिया यथावत चलती रहेगी। ये चंद हाथ आपको रोमांचक हत्याकांड, सैक्स, परीकथाओं, आध्यात्मिक, मनोरंजक कहानियों का साहित्य देते रहेंगे ताकि आपको कभी ये सोचने का अवसर ही न मिले कि कमरतोड़ मेहनत के बाद भी हम फटेहाल, खस्ता हालत में जीने को विवश क्यों हैं ? समाज सुधारक संस्थाओं, परोपकारी संस्थानों के माध्यम से मानवीयता के किस्सों का राग अलापते हुए बिना कुछ किए धरे, आपके जीवन की बागडोर पकड़े रहेंगे और कठपुतली की माफिक नचाते रहेगे।

आज जबकि समाज के संस्कार सामंती है, सोच प्रगतिकामी है किंतु वैचारिक शून्यता है। प्रत्यक्ष रूप में निरंतर हो रहा उद्योगीकरण पूंजीवाद को पुष्ट कर रहा है। समाज का अधिकांश भाग नकारा होता चला जा रहा है। इस नकारेपन की खीझ ठीक उस नारी की भांति है जो झगड़ तो सास से रही हो और सारा रोष अपने बच्चे को पीट-पीट कर प्रदर्शित कर रही हो, अन्तत. अपने पर ही उतरती है। तब क्या ऐसे सामाजिक परिवर्तन की दरकार नहीं होती जिसमें आदमी अपनी जिंदगी जी सके और इस नकारेपन से निजात पाए। ऐसा परिवर्तन तो तभी संभव है जब सारा अर्थ पूरे समाज के नियंत्रण में रहे।

साहित्य के लिए पूरे समाज के हित ही सर्वोपरि हैं। वह किसी द्वारा किसी के भी शोषण का पक्षपाती नहीं हो सकता। सही सामाजिक परिवर्तन की दरकार को वाणी देने के लिए जरूरत शोषित समाज को उसके शोषण के प्रति सचेत करते रहने की है। शोषण विभिन्न स्तरों पर होता है। इसके अपने विभिन्न हथियार हैं। पूरे समाज में यह कहीं एक स्तर पर तो कहीं दूसरे स्तर पर व्याप्त है। कहीं स्पष्ट दृष्टिगोचर है तो कहीं अस्पष्ट रूप में। यही अस्पष्टता विषय वस्तु को भी धुंधलाती है।

साहित्यकार को विषय वस्तु चुनने की खुली छूट है, किसी तरह

का कोई प्रतिबन्ध नहीं। ऐसे घर में जहां किसी नौजवान की मृत्यु हुई हो, वहां शोक संतप्त परिवार के प्रति संवेदना प्रकट करने के बजाए यदि हम होली या दीवाली के गीत गुनगुनाने लगे तो वहां खड़े लोगों की प्रतिक्रिया क्या होगी ? क्या ऐसा करना समय के प्रतिकूल नहीं होगा हालांकि हमें ऐसा करने की पूरी स्वतंत्रता है। स्थिति की नज़ाकत को समझते हुए हमें स्वयं पर अंकुश लगाना ही पड़ेगा। इसी तरह समयगत दबावों/सच्चाईयों को देखते हुए हमें केवल उन विषयों पर अतिरिक्त ध्यान केंद्रित करना होगा जिनके माध्मम से सामाजिक चेतना विकसित होने की पूरी संभावनाएं हैं किंतु इसका अभिप्राय ये कदापि नहीं कि रचना में घर-परिवार ही गायब होने लगे। जैसा कि इधर के लेखन में हो रहा है।

घर-परिवार ही वह सामाजिक इकाई है जिसकी जड़ों में आज भी सामंती संस्कार गहरे पैठे हुए हैं। जिनके निराकरण से ही स्वस्थ सामाजिक संरचना संभव हो सकती है। आज जिन स्थितियों में हम गुजर-बसर कर रहे हैं उसमें घर निरंतर टूटने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। जरूरत घर-परिवारों को तोड़ने की नहीं बल्कि वहां वैचारिक बदलाव की है जो वहां जुड़े रहकर ही संभव है।

ढेरों कहानियां ऐसी पढ़ने को मिलती हैं जहां नायक/नायिका घर-परिवार से विद्रोह कर, उन्हें सदा-सदा के लिए छोड़ देते हैं चूंकि घर उनके लिए फालतू की वस्तु है, उनकी आस्थाएं टूटती हैं। क्या ऐसे पात्र बाद में इन्हीं टूटी आस्थाओं का रोना रोते-रोते खुद नहीं टूट जाते। व्यक्ति के लिए घर-परिवार आवश्यक है वह हवा में नहीं रह सकता।

सामाजिक तंत्र, व्यवस्था ने घर-परिवार की क्या दुर्दशा की है ?

घर-परिवार किस विपत्ति से दो-चार हो रहा है ? सामयिक संदर्भों में घर-परिवार उसका शोषण करता है तो वह इसके प्रति ही अधिक सचेत क्यों है ? पूरे शोषण व उसकी प्रक्रिया के प्रति क्यों नहीं ? घर-परिवार ही ऐसी जगह है जहां हमारे सारे प्रगतिशील विचार, धारणाएं खंडित होने लगती हैं चूंकि सामंती संस्कारों की जड़ें इन्हीं घरों में निहित हैं। अपने आपको बदल लेने के बाद पूरी पारिवारिक इकाई का बदलना अपेक्षित है। घर-परिवार के प्रति किया गया इस तरह का विद्रोह अपनी शक्ति को विभाजित करना है। वर्तमान जरूरत वैचारिक विद्रोह की है मात्र यह कहना ही काफी नहीं कि रामायण, गीता, भागवत् या कुरान आदमी को भाग्यवादी व अकर्मण्य बनाता है बल्कि अपना मत तर्क सहित व्याख्या देता हुआ पुष्ट करे।

देश का अस्सी प्रतिशत भाग गावों में बस रहा है। चेतना का मूल स्त्रोत वहां की जनता हो सकती है। गावों में व्याप्त क्रियाशीलता को समेत उनके तमाम दुखों/तकलीफों/धड़कनों के उजागर करना है। यह समाज अभी तक उपेश्रित पड़ा है चूंकि साहित्य वहां संप्रेषित नहीं हो रहा और वहां की सारी क्षमताएं अन्चीन्हीं रह जाती हैं।

विषय वस्तु का चुनाव करते समय हमें जीवन को यथार्थपरक अर्थो में लेना चाहिए। केवल उस तथ्य को विषय बनाए जहां का उसे पूरा अनुभव विवधता के साथ हो। जिंदगी के किसी भी क्षेत्र में पूरी पैठ के बाद ही अनुभूत सत्य को उद्घाटित करे। यदि हमें जलसे, जलूसों, हड़तालों के मंतव्यों, उनके पीछे की संघर्ष शक्तियों का ज्ञान नहीं तो इन्हें विषय बनाने की कतई आवश्यकता नहीं।

जरूरत सर्वहारा के प्रति अतिरिक्त मोह की नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ को उसके सही रूप में समझने की है। रोज़मर्रा की

दिक्कतों, टूटते-बिखरते संबंधों, विघटित होते पुराने मूल्यों और नए मूल्यों को लेकर अनेक विषय हो सकते हैं। जीवन को उसकी पूरी समग्रता में समझने, आंकने और अभिव्यक्त करने के लिए वस्तुगत सत्य, सामाजिक सत्य व व्यक्तिगत सत्य को घनीभूत करने की नितांत आवश्यकता होती है। किसी एक के अभाव में रचना में शिथिलता आ जाना स्वाभाविक है चूंकि जीवन इन सभी सत्यों से परिचालित होता है।

साहित्य की सार्थकता उसके मौलिक होने में है। चेतना ही व्यक्ति के भीतर की मौलिकता को प्रस्फुटत करती है। जीवन के प्रति गहरी आस्था व उत्सुकता के फलस्वरूप ही साहित्यकार जीवन के विभिन्न पहलुओं को नूतन दृष्टि से प्रस्तुन करता है। चेतना के क्रमिक विकास के लिए हमें जनता के इतिहास, सामाजिक, राजनैतिक पद्धतियों, उनकी लोकक्तिओं, कहावतों से समुचित ज्ञान अर्जित करना चाहिए। प्रतिभा का सहज विकास तभी संभव है। यहां एक सहज प्रश्न उठता है कि चेतना कैसी हो? किस वर्ग से जुड़े? समाज के किस हिस्से के प्रति अधिक क्रिया-शील हो? साहित्य में विशेषतः कथा साहित्य में उसकी क्या भूमिका हो?

यथार्थ व्यक्ति, समाज, व्यवस्था के आपसी तालमेल व खिंचाव का प्रतिफलन है। यह अर्द्ध विकसित चेतना का ही परिणाम है कि वर्तमान कथा लेखन में गरीबी की कहानियों में समस्याएं अमूर्त तथा गरीबी का इंद्रजाल अधिक है। हाय रे इन्सान की मजबूरियां, वाह रे भाग्य, क्या इन्सान जानवर से भी गया गुजरा हो गया है? जैसे शब्दों की भरमार रहती है वहीं दूसरी ओर ऐसे-ऐसे क्रांतिकारी चरित्र प्रस्तुत किए जाते हैं कि उन पर यकीं करना ही असंभव लगता है। पूरी रचना में कहीं कोई चेतना, द्वंद, सोच, कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती। जीवन के प्रति कोई जुड़ाव नहीं, कोई चिंता उसे प्रभावित नहीं करती। पूरे

रचाव में वह कहीं क्रियाशील नहीं लेकिन अंतिम हिस्से में बंदूक से छूटी गोली सा सीधा अपने निशाने पर जा चोट करता है। किसी रचना में थोड़ी बहुत चेतना है भी तो वह दूध में व्याप्त मक्खन सी नहीं बल्कि चेहरे पर उगे चेचक के दागों सी है। कारण चेतना का वर्ग से न जुड़ना है, चेतना पूरे वर्ग से जुड़कर ही विस्तार पाती है।

भिखारी जो कि पूंजीवादी समाज का मोहरा है पर जरूरत से ज्यादा लिखा गया और जा रहा है चूंकि इससे पूंजीपति को ऐसे साहित्य के माध्यम से दया, सहानुभूति दर्शाने का पूरा अवसर मिलता है। वह निर्धनता का चित्रण भी ऐसी तड़क भड़क से प्रस्तुत करता है कि व्यक्ति को लगे निर्धन होना भी एक बड़ा सुख है। वह चोर के बारे में कभी बात नहीं करता।

चोर के बारे में सोचने की अधिक जरूरत है चूंकि वह एक क्रियाशील पात्र है, उसमें उपजा असंतोष ही उसे व्यवस्था से विद्रोह के प्रति प्रेरित तो करता है किंतु सही चेतना के अभाव में वह सही जमीन से जुड़ नही पाता। आवश्यकता दया या सहानुभूति प्रकट करने की नहीं बल्कि स्थितियों के प्रति अधिक जागरुक करने की है। उसकी चेतन जड़ता को झकझोरने की है।

कोरी भावुक रचनाओं से किसी भी व्यवस्था को कोई चिंता नहीं होती लेकिन वर्ग चेतना से लैस साहित्यिक रचनाओं की तेज धार के आगे जब प्रतिक्रियावादी साहित्य स्वयं को बौना महसूस करता है तभी वह ऐसे २ सवाल उछालकर कि आप जिस वर्ग के लिए, जिस समाज के लिए, जिन लोगों के लिए लिख रहे हैं वे तो उसे समझते ही नहीं तब आपके लिखने की सार्थकता ही कहां रह जाती है, साहित्यकार को उसके सही कर्म से विमुख करने की साजिश करता है चूंकि वह जानता है कि जब शोषित समाज वर्ग

चेतना से लैस होता है तो वर्ग संघर्ष अवश्यंभावी है जिसमें वह अन्तत: हारेगा ही। इस साजिश की डोर पूंजीवादी तंत्र के हाथों में होती है।

धूमिल की कविता को लेकर 'धर्म युग' में छपी परिचर्चा इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस घटना के माध्यम से कि एक बार धूमिल की कविता एक रिक्शाचालक को सुनायी गयी तो उसने सुनने के बाद कहा कि यह कविता उसकी समझ में नहीं आयी यह निष्कर्ष निकालना कि साहित्य जिसके लिए लिखा जा रहा है, उसे ही समझ नहीं आ रहा तो इसकी उपयोगिता? यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि कविता समझ न आने का कारण चेतना का अभाव है और इस अभाव का कारण उसका अनपढ़ होना है। आज जबकि नुक्कड़, नाटकों, जन-गीतों के माध्यम से उसकी चेतन जड़ता पर लगातार प्रहार कर जब हम उसे अनपढ़ता के अभिशाप से मुक्त करेंगे तो उन्हें चेतना के निरंतर विकास की आवश्यकता भी अनुभव होगी। तब वह अपने साहित्य को ढूंढ-ढूंढकर पढ़ेगा। रचनाकार मात्र तत्कालिक मांगों / स्थितियों के अनुरुप ही सृजन नहीं करता बल्कि आने वाली समस्या से भी पूरी तरह सजग रहता है। कोई भी समाज जब अपनी चेतन जड़ता से निजात की राह पर आगे बढ़ता है तो थोड़ी ही देर बाद उसे साहित्य का मर्म भी समझ आने लगता है।

किसी भव्य भवन के निर्माण के लिए लोहा, ईंट, बजरी, रोड़ी, सीमेंट वह कच्चा माल है जिसका पर्याप्त मात्रा में होना अपेक्षित है। उसके पश्चात् आवश्यकता रहती है ऐसे शिल्पी की जो इन सभी चीजों का सही उपयोग करता हुआ अपने शिल्प व श्रम से भव्य भवन निर्मित करे।

साहित्यकार एक साथ दृष्टा व सृष्टा है। सृजन के लिए जरूरी

वस्तुओं के सही चुनाव के बाद कल्पना शक्ति ही उसकी निर्माण क्षमता का पहला पड़ाव है। कल्पना शक्ति जितनी प्रबल होगी सृजन में उतनी ही रोचकता व मौलिकता होगी कल्पना शक्ति सृजन के अनुकूल हो और वह परम सत्य लगे। परम सत्य से अभिप्राय है कि वह सहज विश्वसनीय हो। बिहारी के उस दोहे सी न हो कि विरहणी के आंसू जब गालों पर से ढुलकते हुए उसके उरोजों पर आ गिरे तो भाप बनकर हवा में विलीन हो गए यानी उरोजों में इतनी उष्णता थी। यह सहज कल्पना नहीं बल्कि अतिरेक है। बिना कल्पना के लिखा नहीं जा सकता चूंकि जीवन काल खंडों में विभाजित है, पल पल की अपनी अर्थवत्ता है उदाहरण के लिए एक पात्र एक वाक्य आज कहता है जो उसके अस्तित्व व मन: स्थिति को पूरा व्यक्त करता है, दूसरा वह तीन, आठ या दस दिन बाद कहता है तीसरा साल, दस साल बाद या जीवन भर ही न कहे तो क्या उसके जीवन को अभिव्यक्ति ही न दी जाए? यहां उस तीसरे वाक्य की कल्पना कर लेना ही परम सत्य होगा।

रचना विधान में यद्यपि चरित्र-चित्रण विषय वस्तु से ही निर्धारित होता है तथापि कभी-कभी चरित्र भी विषय वस्तु को व्यापकता प्रदान करते हैं। रचना में चरित्र का हर हाव-भाव, जीवन स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, स्वयं पर भी कटाक्ष कर लेने की क्षमता, उसकी विशिष्टताएं (यहां विशिष्टताओं से अभिप्राय चरित्रगत खूबियां हैं) इतनी जीवंत व सार्थक हों कि पाठक को लगे कि ऐसे व्यक्ति से तो वह कई बार पहले भी साक्षात्कार कर चुका है, उसमें इतनी विशिष्टताएं / विभिन्नताएं हैं यह तो आज ही रचना के माध्यम से जाना जिसका दूसरा अर्थ है कि वह जीवन क्षेत्र के वह चरित्र चुने जो अपनी पूर्ण अर्थवत्ता में हमारी चेतना को झिंझोड़ने व विस्तार देने की क्षमता रखते हों, हम स्वयं को उसके साथ साथ चलते हुए पाएं। यहां यह ध्यातव्य है कि सभी चरित्रों पात्रों के प्रति समान दिलचस्पी

नहीं हो सकती उसकी सहानुभूति, दिलचस्पी अपने केंद्रीय पात्र के प्रति होती है यदि हमारी सहानुभूति, दिलचस्पी भी उस पात्र के प्रति होती है तभी रचनाकार की चरित्र-चित्रण क्षमता अभूतपूर्व मानी जाएगी। केन्द्र बिंदु जिसे लेकर उसने सारा ताना-बाना बुना है, इतना स्पष्ट हो कि सहज ही उस तक पहुंचा जा सके। यह पक्ष वर्तमान साहित्य में काफी उपेक्षित रहा है जिसके फलस्वरूप कलात्मक पक्ष इतना शिथिल पड़ने लगा है कि अधिकांश रचनाएं तो विचारों का सरलीकृत रूप लएती हैं। घटनात्मकता पर अधिक बल दिया गया और घटनाएं भी रचनाओं में यूं आती हैं कि वे सृजित कम बुनी हुई ज्यादा लगती है।

साहित्यिक कृति के कलात्मक रूप का महत्वपूर्ण तत्व रचना विन्यास है और इससे भी अधिक निर्णायक है लेखक की भाषा। भाषा लेखक की निजी संपति है जिसका क्रमिक विकास व विस्तार ही रचनात्कक मोर्चे पर की सफलता का मानदंड है। जिस लेखक के पास अपनी भाषा नहीं उसका लेखन दीर्घजीवी व स्वस्थ नहीं हो सकता। एक एक शब्द को दिमाग में बिठाने के लिए उसे पूरे अनुभव की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। शब्दों में इतनी शक्ति हो कि वे तनी मुट्ठियां खोलने और खुली मुट्ठियों को बंद कर सकने की क्षमता रखते हों। एक बात सौ तरीकों से तो हम कह लेते हैं किंतु उसी बात को कम से कम शब्दो व अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से कहने की दक्षता यदि रचनाकार में नहीं तो उसकी रचना में बिखराव आयेगा और कभी-कभी ये बिखराव रेशम मे लगे पैबंद सा पूरी रचना को बिगाड़ देता है। भाषा के अर्जन के लिए उसे परंपरा से सीखते रहना है। उन लोगों से भी जिनको लेकर वह रचना करना चाहता है

श्रम संसार की क्रांति की आवस्यकता की चेतना के द्वार पर खड़े वे पात्र जिन्हें अभो कथा साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला है

साहित्यकार को बराबर झिंझोड़ रहे हैं। उन्हें हाड-मांस में प्रस्तुत करने के लिए नई भाषा की आवश्यकता है / रटे-रटाये शब्दों में आज की समग्रता को नहीं समेटा जा सकता / विरासत में मिले कुछ स्वस्थ्य मुहावरों। लोकोक्तियों। कहावतों में आज के जीवन को संचालित करने की पूरी क्षमता है, मसलन नाच न जाने आंगन टेढ़ा, हाथ कांगन को आरसी क्या, पढ़े लिखे को फारसी क्या, आदि इनका उपयोग विविधता की दृष्टि से किया जा सकता है। साहित्य अपने पात्रों के अनुकूल भाषा विकसित करता है। भाषा गागर में सागर भरने की क्षमता से ओत प्रोत होती है। उदाहरण के लिए बोरीस पिल्न्याक की एक कहानी को लिया जा सकता है। जारशाही युग में एक स्टीमर की रवानगी का वर्णन करते हुए उन्होंने एक पादरी के बारे में लिखा—वह साढ़े तीन हजार हार्स पावर के तीन सिलडर वाले इंजन पर पवित्र जल छिड़कने कप्तान के साथ नीचे गया। यहां लेखक की भाषा क्षमता समृद्धतर रूप में विद्यमान है। उसने दो शब्दावलियों (इंजीनियरिंग व धार्मिक) को एक साथ घुला मिला कर इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि धार्मिक शब्दावली स्वयमेव इंजीनियरिंग शब्दावली सम्मुख घुटने टेकती नजर आती है। इसी बात को यदि वह धार्मिक मतान्तरों व वैज्ञानिक उपलब्धियों का जिक्र करता हुआ प्रस्तुत करता तो रचना अनावश्यक रूप से विस्तार पा जाती जो पाठक को अधिक उलझाती और लेखक उपदेशक की मुद्रा में सामने आता।

भाषा के बाद शैली-शिल्प रचना को विविध, प्रासंगिक, बनाने में सहायक होता है। यह पूरी इमारत का वह बाहरी हिस्सा है, जो अपनी आकर्षण क्षमता द्वारा इमारत को भीतर तक देखने की अदम्य इच्छा से भर सकता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जिस तरह धीमी व उखड़ी चाल व्यक्ति के भीतर हो

रहे आत्मसंघर्ष को रेखांकित करती है वैसे ही शैली-शिल्प भी रचना की वह नब्ज है जिससे हम रचना के भीतर छुपे मर्म को सहज रूप में समझ लेते हैं। ओढ़ी हुई और स्वाभाविक चाल के अंतर को जिस तेजी से हम भांपते है ठीक वैसे रचना के अनुरूप शैली-शिल्प और शैली-शिल्प के अनुरूप रचना में देखा जा सकता है। रचना के अनुरूप शैली-शिल्प ही पूरी कृति को बोधगम्य बनाता है। शैली-शिल्प के अनुरूप रचना तो 'आन डिमांड बैंक ड्राफ्ट' है, जो एक सीमा तक ही 'ओवर ड्राफ्ट' हो सकता है अंततः उसे 'डिस आनर' ही होना पड़ता है। शैली-शिल्प ही रचना को अन्य रचनाओं से अलगाता है। जिस साहित्यकार के पास अपना शैली-शिल्प नहीं है उसका साहित्य भरपूर जिंदगी नहीं जीता बल्कि मृत्यु शय्या पर पड़े रोगी सा आक्सीजन ले-लेकर जीता है जिसके मरने की आशंका हर क्षण बनी रहती है। तीन व्यक्ति एक टेबिल पर बैठे काफी पी रहे हैं, एक उदास, दूसरा खुश तथा तीसरा गंभीर है, वहां तीन मानसिकताएं है, तीन विचारधाराएं हैं, तीन अभिव्यक्तियां है। इनको रचनाकार उनके अनुरूप ही रचना में एक साथ कम से कम शब्दों व अधिक व्यापक व आकर्षक रूप से अपने शैली शिल्प, भाषा के बूते पर ही करेगा। वह दो वाक्यों में भी इन्हें पूरी तरह अभिव्यक्त कर सकता है और तीन पृष्ठो में भी। दो वाक्यों में पूरी अभिव्यक्ति ही लेखक की शैली शिल्प की परा-काष्ठा को व्यंजित करती है और तीन पृष्ठों में अभिव्यक्त बात बार बार इन्हीं मानसिकताओं को दोहराती रहेगी और पाठक ऊब अनुभव करेगा।

अनुभव की प्रामाणिकता की आड़ में गलत को सही सिद्ध करने की जो होड़ सी लगी है उसे जान लेना भी लाजिमी है। अनुभव क्रिया की व्यावहारिकता में प्रतिक्रिया का प्रतिफलन हैं और जीवन विभिन्न क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का कार्यस्थल है। अतः हम जितना क्रियाओं वर बल देंगे उतनी ही अधिक प्रतिक्रियाएं

होगी । उनके आपसी मेल या खिंचाव से निकला परिणाम ही अनुभव होगा। यहां क्रियाओं पर बल देने का अर्थ है कि वह जीवन के विविध क्षेत्रों की भीतरी धड़कनों को करीब से देखे। वह जितनी सुक्ष्मता से उन्हें महसूस करेगा। संवेदना उतनी ही तुर्श व परिष्कृत होगी । जीने मरने को लोग बेबसी से स्वीकार करते हैं, रचनाकार उसकी इस बेबसी की तह तक जाने की कोशिश करता हुआ इन अनुभवों को आत्मसात करता है। इन आत्मसात किये अनुभवों को वह प्रामाणिकता की सान पर खूब रगड़ता है जिससे अनुभव समूहगत या समाजगत होने की प्रक्रिया से गुजरने लगते हैं।

अनुभव प्रामाणिक कैसे हो ? जिस तरह लैक्टोमीटर दूध को शुद्धता की प्रामाणिकता का मानदंड है। ठीक वैसे ही अनुभव की प्रामाणिकता उसके व्यापक होने तथा समूहगत या समाजगत होने पर निर्भर है। अनुभव कैसे होता है ? पहले जब भी लोग देखते तो पाते कि जमीन असमान एक जगह मिले हुए हैं। बच्चे जिज्ञासावश जब पूछते होंगे कि जमीन असमान कहां मिलते है और कैसे मिलते हैं ? तो उनका एक ही उत्तर होता था कि हम तो जब से पैदा हुए हैं यही देखते आए हैं, यही उनका अनुभव है। किसी व्यक्ति की जिज्ञासा जब शांत नहीं हुई होगी तो उसने सदियों के अनुभव को प्रामाणिकता की कसौटी पर कसने के लिए कई प्रयोग किए होंगे। वह मीलों मील चलता रहा होगा और जमीन आसमान की दूरी कहीं कम नहीं हुई तो पहली बार उसने कहा होगा—नहीं, आपका अनुभव सही नहीं । इस सही नहीं ने ही बाद में प्रमाणित किया कि क्षितिज हमारी दृष्टि सीमा है । यहीं आकर अनुभव व्यापक हुआ, यही व्यापकता उसकी प्रामाणिकता है।

हमारे अनुभव यदि समाज या समूह से परिचालित नहीं या उस

वर्ग से नहीं जुड़ते जिन्हें हम इन अनुभवों के माध्यम से जीवन समझ के प्रति प्रेरित कर रहे हैं तो वे अनुभव प्रामाणिक नहीं बल्कि नितांत निजी होंगे। अनुभव जितने सीमित होंगे जीवन विकास उतना ही एकांगी होगा। यौन संबंधों को लेकर लेखकों के पास न जाने कितने प्रामाणिक अनुभव होते हैं जिसकी अभिव्यक्ति करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। यहीं प्रश्न अनुभव की व्यापकता का है। क्या हम चौबीस घंटे ही यौन तृप्ति में रत रहते हैं? क्या हमारा जीवन इससे आगे है ही नहीं? क्या हम रोजी-रोटी के बारे में निश्चित बैठे रहते है, काम नहीं करते? क्या हम बस में सफर नहीं करते? क्या कदम कदम पर हमें अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता? इन क्षेत्रों के अनुभव प्रामाणिक नहीं होते? होते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं? अनुभवों की व्यापकता में जाने का जोखिम तो हमें हर हाल में उठाना है ही ताकि पूरा समाज सही मायने में अभिव्यक्त हो सके।

•

सही रचनाधर्मिता से ओत प्रोत हाल ही में प्रकाशित कुछ कहानियों का जिक्र करना इस दृष्टि से समीचीन होगा कि साहित्य के सही मान दंड रचनाओं में बखूबी मिल रहे हैं। हलवाहा (शेखर जोशी) हल लिए मजूर (अमर कांत) माटी मिली (रमेश उपाध्याय) मछलियां (असगर वजाहत) घोड़ी (वीर राजा) मौत की छलांग (रमेश बत्तरा) उठो, लच्छमी नारायण (सुरेंद्र मनन), और फर्क (कथा संग्रह–इसरायल), आदमी नामा (कथा-संग्रह-काशीनाथ सिंह) साथ के लोग (कथा संग्रहशेखर जोशी) की कुछ कहानियां।

☐ नरेंद्र निर्मोही

□ तरसेम गुजराल

कहानी और प्राथमिकताएं

आज जबकि कविता की संप्रेषणीयता और प्रभाव की व्यापकता दिन व दिन क्षीण और फीकी पड़ती जा रही है, कहानी की संप्रेषणीयता और प्रभाव की व्यापकता अपनी अगली हदों को पार करती हुई लगातार एक जोरदार विधा होने के सार्थक दावे का गौरव संभालती चली जा रही है। यहां तक कि आज कहानी के संपूर्ण साहित्य की केंद्रीय विधा होने पर कोई संदेह की छाया नहीं है, इसलिए आज कहानी की प्राथमिकताओं पर विचार करना जरूरी है।

प्राथमिकताओं को तय करने की मांग आज सौंदर्य-दर्शन से जुड़ी हुई है जिसके तहत समकालीन लेखन में जिंदगी के अभिप्राय, मूल्य एवं अर्थ की मौजूदगी के बारे में नये सिरे से सोचा जाने लगा है ताकि 'अनुभूति की प्रामाणिकता' 'भोगा हुआ यथार्थ' 'क्षण क्षण की अर्थवत्ता' तथा 'सौंदर्य की असीमता तथा अलौकिकता' की मोहक लगने वाली खोखल प्रतिध्वनियों से से परे जाकर वस्तुगत तथ्यों से जुड़कर अपवादजनक धारणाओं का बेबाक चीर-फाड़ किया जा सके और जांच पड़ताल के उस विचारबिंदु तक पहुंचा जा सके जहां यह जायजा लेना अनिवार्य हो जाये कि कहानीकार खुद व खुद महज खास किस्म के जुमलों की तराश अथवा भाषा रचाव की संगतराशी में तो मुब्तिला नहीं है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपनी व्यापक पृष्ठभूमि से कटकर उसने रोजमर्रा की घटनाओं को अपनी तलस्पर्शी दृष्टि से देखने की बजाय कोई शुतुर्मुर्गिया दृष्टिकोण तो नहीं अपना लिया है।

यह बात अपने आप में बिल्कुल साफ है कि प्राथमिकताओं का सवाल उन लोगों के लिए है जो कहानी के प्रति पूरा ईमानदाराना रवैया रखते हुये कहानी

की भूमिका को सामाजिक परिवर्तन की भूमिका का एक हिस्सा मान कर चलते है और पूंजीवादी शोषण के विस्तृत और रंगीनजाल को काट कर फेंकना चाहते है। न्याय की भावना से प्रेरित होकर श्रमजीवी वर्ग के लिए उनकी खुशियां हासिल करने के पक्षधर है। बेईमानी और भ्रष्ट तंत्र की आकटापस सी जकड़न में ग्रस्त लोगों में सिर उठा कर चलने की उमंग उद्दीप्त करना चाहते हैं। प्राथमिकताओं का सवाल उस वर्ग के लिए न तो कोई कीमत ही रखता है न ही तरजीह दिये जाने वाली सोच का कोई सार्थक हिस्सा बन सकता है, जिनकी समूची दयानतदारी लेखन के खास स्टाईल और रंगीन तथा खूबसूरत लगने वाले पन्नों के लिए आवारा कुत्ते की मौत मर गई है, जिसे सुविधावादी जीवन पर दूर दराज तक व्याप्त साजिश अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार देती है और जनवादी रुझान को अपने तरीके से भ्रमित करने के लिए अपनी तरफ से मार्क्सवादी व्याख्या करके प्रस्तुत करती है। ऐसे लोगों के लिए प्राथमिकताओं का सवाल कोई अहम सवाल नही रह जाता क्योंकि बकौल उनके लेखन की असली पहचान तटस्थता है और अगर किसी कलाकार को इस दिशा मे मीलपत्थर गाड़ने है तो उन्हें चाहिए कि तटस्थ रह कर सरस्वती के चरणों पर अपनी कल्पना की तूलिका से रंगे हुये पुष्प चढाते रहें, तभी वे ऐसे साहित्य की रचना में सफल हो पायेंगे जिसका नाम शेष दुनिया तक नक्षत्रों की तरह उज्वल रहेगा। अपने लेखन को टिकाऊ बनाने के लिए वे अपनी रचनाओ मे भाग्यवादी एव नियतिवादी दृष्टिकोण का प्रचार एवं प्रसार करते है।

कहने की आवश्यकता नही कि तटस्थ रहने वाले लोग बगुलों की तरह तट पर खड़े रहते है। डूबने का जोखिम उठाये बगैर इस कामना मे आँख मूंदे रहते है कि दिन सदा एक से नही रहते। कोई नही जानता कब किसी की किस्मत का सितारा चमक जाये। लहरो का क्या भरोसा। कोई दिन तो ऐसा होगा ही जब अचानक कोई अनमोल मोती उनके पंजों में होगा। उन्हें तट पर खड़े रहकर यह आस बराबर लगी रहती है—

रहिमन चुप ह्वै बैठिये देख दिनन के फेर
जब नीके दिन आविहें बनत लगि न देर

यही जनवादी कहानीकार के लिए प्राथमिकता अपने आप तय हो जाती है, एक तो उसे अभिव्यक्ति के सभी खतरों को उठाना है तथा उसके लिए कहानी

तथा उसके साथ चरित्रों की पड़ताल एक शोध का विषय है। चीजों को जिंदगी की व्यापकता और याथर्थवादी परिप्रेक्ष्य में देखना है और लगातार कोशिश करनी है कि अनुभव की व्यापक गहराई में उतरा जाये और मामूली आदमी को उसी के ढांचे के रूबरू खड़ा करके उसे लगातार संघर्ष द्वारा जिंदगी को वेहतर वनाने के लिए प्रेरित किया जाये। इस के लिए कहानी के प्रचलित फार्म मे ही काम करने भर का मोह एकदम त्याग देना होगा और निजी मन के तहखाने मे पाले गये तयशुदा निष्कर्षो को त्याग कर चरित्र को जिंदगी की तल्ख सच्चाईयों के साथ विना किसी पूर्वाग्रह के साक्षात्कर करवाये और कहानी जीवनानुभवों का गहराई से बेबाक और सीधा रिश्ता कायम करे। दूसरे यह तय करना है कि कहीं जाने या अंजाने में उसके लेखन के रवैये की छाती में मांगपूर्ति के व्यावसायिक तथा आकर्षक वर्मे ने छेद तो नहीं कर दिया है। व्यावसायिक पत्रिका में छप जाना और वात है तथा उनके पन्नों के लिए लिखना और महज इसरार पर लिखना साहित्य के सही सलामत चेहरे पर चेचक के दाग उगाना है।

वे लोग जो कहानी लेखन को एक मंहगी हाबी मानते हैं, उनके लिए प्राथमिकताओं का सवाल महज इजारेदार घरानों की बड़ी पत्रिकाओं में, जैसे भी हो मांग के अनुरूप लिख कर छपना होता है क्योकि वे सोचते है कि ऐसी पत्रिकाओं की मार्फ़त मामूली कहानीकार भी ओवरनाईट चर्चित कहानीकार हो जाता है। एक वक्त में चर्चित होना उनके लिए इतना जरूरी हो जाता है कि उसके लिए कभी वे विस्तर के उत्तेजक प्रसगों को घटिया लेखन की मनोवृत्ति की तरह चटखारे लेकर पेश करते हैं और कभी व्यक्ति वैचित्र्यवाद के मोह में पड़कर ऐसे विचित्र पात्रों को गढ़ते हैं जो वास्तविक संसार में नजर नहीं आते। कभी उनसे सामना होने पर आप ऐसे पात्रों के बारे में सवाल करें तो वे मसीहाई अंदाज में कहेंगे कि आपका अनुभव अभी सीमित है या यह कि वे विषय चुनाव की आजादी के हकदार हैं।

विषय चुनाव की आजादी के वे वाकई हकदार हैं लेकिन देखना यह है कि विषय चुनाव की स्वतंत्रता के बाद वे अपनी कहानी के माध्यम से क्या दे पाये हैं। समयगत सच्चाईयों में हमारी अहम समस्यायें क्या हैं, उनके क्या

हल हैं, उनके कितने रूप है, कितने रंग हैं उनके खिलाफ कौन सा अस्त्र या शस्त्र कब और किन स्थितियों में ज्यादा कारगर होगा।

अगर वास्तव में उनके अनुभव विस्तृत होते तो काम प्रसंगों में सिर्फ संभोग ब्यौरों की इतनी आमदरफ्त न होती कि कामशास्त्र की फुटपाथ पर बिकने वाली नकली और वाहियात कितावों के सामने बौनी होती। कहीं डाक्टर नर्स को मर्चरी में ले जा जाकर लाशों के बीच उससे संभोग करता है (लाशें : कामता नाथ) तो कहीं कोई पात्र इस काम के लिए पांच मिनट भी नहीं सिर्फ तीन मिनट की गुजारिश करता है (तीन मिनट: रघुवीर सहाय) कहीं कहीं आगे की मंजिलें सर करने के लिए लेस्ब्रयनिज्म है (मछली मरी हुई: राजकमल चौधरी) तो कहीं भैंस के साथ डाक्टर का संभोग है (सफेद मेमने: मणिमधुकर) इस तरह के चित्र वीक एंड (निर्मल वर्मा) भरत मुनि के बाद (मणि मधुकर) कहानियों में भी मिलते हैं। शायद ज्यादा बोल्ड होने का श्रेय हासिल करने के लिए ही नारी लेखिकाओं ने समय समय पर नये शिखर तलाश किये हैं (कितनी कैदें : मृदुलागर्ग, यारों के यार : कृष्णा सोवती)।

दरअसल यह सब विजातीय मन:स्थितियों और मनोदशाओं का फेर है। यह कैसे स्वीकार कर लिया जाये कि आदमी के लिए सिर्फ सैक्स ही इतनी बड़ी कीमत बन कर रह गया है कि उसकी नीली धुंध के गिलाफ के परे कुछ भी नहीं। अनुभव का विस्तृत होना क्या उन आयामों के साथ कोई तालमेल ही नहीं रखता है जहां एक पतला पतंग सा आदमी जिसने कल रोटी खाई थी लेकिन आज का कोई ठिकाना नहीं मगर हाथ में झंडा लिये हुए है और चिल्ला रहा है 'इन्कलाब जीनाबाद' 'इन्निरा गानी भाड़ में जाओ' दफ्तरों में सैंकड़ों बाबू नौकरी के जोखिम को ताक पर रख कर, सैंकड़ों अस्तित्व संबंधी मुंह बाये सुरसा जैसे सवालों के बावजूद धमकियों के प्रति बिल्कुल बेपरवाह होकर हड़ताल करते हैं, लाठियां खाते हैं, जेल जाते हैं।

ईमानदारी और सच्चाई कहानीकार की सब से बड़ी प्राथमिकता है। सुविधाओं की तहजीब के बाहर रह कर इसके विषाक्त असर से रचनाधर्मिता को बचा कर रखना एक बहुत बड़ी चुनौती है, जिसका सामना रचनाकार को आज के लगातार क्रूर होते माहौल और तेजी से बदलते हुये मूल्यों में कदम कदम पर करना पड़ता है। दरअसल सुविधाओं का सम्मोहन मध्य वर्गीय लेखक

के लिए इतना बड़ा खतरा है कि उसकी प्रगतिशीलता को अनायास ही कुंद कर सकता है। वास्तविकता यह है कि सही लेखन का रास्ता इतने बियावान जंगलों से होकर जाता है कि भटकने के सैंकड़ों अवसर मौजूद हैं। इस रास्ते में मंडी की व्यापारिक मुस्कानें हैं, फेशनेबल संसार के चकाचौंध भरे बाजारों की गहमा गहमी है और है सम्मान प्राप्त करने के लिए पेचदार सीढ़ियों की दिलकशी का आलम। रास्ते का चुनाव और तय करने के लिए हर अंजाम का संघर्षपूर्ण रवैया कहानीकार का अपना विषय है, यहीं उसके लेखन की ईमानदारी निश्चित होती है। कौन कितनी बेबाकी से इस प्राथमिकता को निभा रहा है यह आत्मसंश्लेषण तथा आत्मसंश्लेषण के बाद गलत बुनियादों के गुरुत्वाकर्षण के बीच लगातार हस्तक्षेप करते रहने से तय होने लगता है। इस तरह कहानी ही नहीं समूचे लेखन की सबसे बड़ी और पहली प्राथमिकता ईमानदारी है जिसके अभाव में लेखक लेखक की जमीन से खारिज होकर भांड, मदारियों, तमाशाईयों की तमाम विशेषताओं से गौरवान्वित हो उठता है। ईमानदारी से च्युत लेखन नपुंसकता की खाईयों में जा गिरता है जहां किसी भी प्रकार का कोई 'सांडे का तेल' काम नहीं करता।

शायद कथाशिल्पियों को आज यह चिंता बहुत बुरी तरह से परेशान कर रही हो कि विधागत रूप में कहानी की शक्लोसूरत कितनी बन अथवा कितनी बिगड़ रही है। आम तौर पर यह देखने में आया है कि जब भी किसी विधा पर परिस्थितिगत परिवर्तन का दबाव बहुत आक्रामक होकर पड़ता है तब उसकी परंपरागत फार्म उसे पूरी तरह से बर्दाश्त कर पाने में असमर्थ और असहाय दीखने लगता है। रचनाकार 'फार्म' को अधिक तीखे अनुभव वहन कर सकने लायक बनाने के लिए भी जद्दोजहद करता है। यह जद्दोजहद रचना प्रक्रिया के साथ घुली मिली होती है और जितनी संतुलित हो उतनी अधिक असरदार रहती है। असंतुलन की स्थिति में झुकाव का यकतरफा हो जाना स्वाभाविक है। शिल्प के प्रति अधिक झुकाव रचना को अनुभव के पैमाने पर खरोंच जरूर देगा। दूसरी तरफ अक्सर यह भी देखने में आया है कि अगर यह झुकाव जिंदगी की आग में तपे हुये अनुभव के प्रति ज्यादा रहा हो और पूरी ईमानदारी से रहा हो तो शिल्प अपने आप ही अपनी रेखायें भास्वर कर जाता है। विधा के विघटन का खतरा अनुभव संसार की व्यापकता और गरिमा के आगे कुछ भी नहीं है। यहां यह मान लेना भूल होगी कि रचना के धरातल

पर अनुशासनहीनता को तरजीह दी जा रही है। दरअसल रचना को जीवन के अनुरूप बनाने की कोशिश में किसी संदेह की गुंजायश नहीं रहनी चाहिए। जीवन प्रक्रिया का निरंतर बढ़ता हुआ तनाव, घेराव और बिखराव की चुनौती के सामने शिल्पगत आग्रह के तकाजे अपने आप ढीले पड़ते चले जाते हैं और यह तकाज़ा ज्यादा जोर मारता है। कहानीकार अपने परिवेश की चुनौती को पूरी शिद्दत से स्वीकार करे और दिखा दे कि जीवन बाहर जितना सत्य और प्रामाणिक है उतना ही उसकी कहानी में मौजूद है उससे जरा भी कम नहीं। कम है तो अभी उसे खरा बनाने की कोशिश बरकरार है बहुत ज्यादा है तो जाहिर है कहानीकार उड़ने लगा है।

आज कहानी आंदोलनों पर नज़र डाली जाये तो बहुत अधिक उत्साहास्पद पहलू नज़र नहीं आते। एक जमाने में प्रेमचंद ने कहानी को जबरदस्त भूमिका दी थी, उसे मनोरंजन से बिल्कुल बरतरफ कर दिया था और प्राथमिकताओं का जो बीज उन्होंने 'कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी' के जरिए रोपा था, वह पौधा बहुत देर तक नहीं खिला। कहीं छिटपुट कोई शाख फूटी भी (दोपहर का भोजन: अमरकांत, चीफ की दावत: भीष्म साहनी) तो पता ही नहीं चला। ज्यादातर उखाड़ पछाड़, उठा पटक, आंदोलनों, नेताओं और गुटों पर ही केंद्रित रहा है।

नई कहानी में सबसे ज्यादा जोर नयेपन पर दिया गया जिसमें एकांत, अजनबीपन, ऊब, अकेलेपन, मृत्युबोध, मोहभंग, संवादहीनता के रेशों को सहलाया, पिरोया और उलझाया सुलझाया है। इसमें संदेह नहीं कि नई कहानी के कहानीकारों ने उस समय की कहानी को 'नख से शिख तक दुरुस्त', 'मंजी हुई सुनियोजित' फार्मूलाबद्धता से छुटकारा दिलाया है और कहानी संसार की सीमाओं को, पाठकों को करुणार्द करने तथा मायावी और रोमेंटिक आयामों से अलग करने की भरसक कोशिश की है (कोई एक कहानीकार अपवाद भी हो सकता है) इस के साथ ही समीक्षा पद्धति के परंपरागत अराजक मानदंडों को तोड़ने की लगातार कोशिश की है। परन्तु इस महादेश के लिए लगातार पिसते हुये वर्ग में जीवन रस उड़ेंलने तथा संघर्ष के माध्यम से अपनी हैसियत को बनाने की प्रेरणा पर नहीं के बराबर लिखा गया है। इस तरह से उन दो चार पत्तों पर भी लगातार कोहरा गिरता रहा है (दूसरी सुबह सूरज पच्छिम से निकला था : कमलेश्वर, अतीत में कुछ : गंगा प्रसाद विमल और इसी तरह की ढेरों कहानियां) बीच में एक दो और पत्ते फूट भी गये तो क्या

मानी (मंदी : मोहन राकेश, मांस का दरिया: कमलेश्वर)

अकहानी आंदोलन से सीधा अभिप्राय है कि कहानी संभावना अब शेष नहीं रही। पारिवारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विघटन पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। यौन संदर्भो का लिजलिजा प्रयोग इन कहानियों में इस कद्र हुआ है कि लगा इसके अतिरिक्त अब जिंदगी में कुछ भी शेष नहीं है। कहानी आंदोलन के बैनर के साथ आई कहानियों का स्वरूप विविध-आयामी हो ही नहीं सका। देखा जाये तो अकहानी आंदोलन मूल्यहीनता के तेज असर में समय के मध्यवर्गीय समाज की झिलमिलाती सच्चाईयों का शिल्पगत रूप है जिसमें उस समय का विसंगतिबोध, भयावहता और कामुक संबंधों की भरमार है, जहां जिंदगी की प्रतिकूलताओं के विरूद्ध जद्दोजहद की भूमिका या तो बिल्कुल नदारद है या इतनी महीन है कि उसका कोई स्पष्ट रूप दिखाई नहीं देता। यानी फिर कोहरा —(लाशें: कामता नाथ, मौजेः सुरेन्द्र वर्मा)।

आंदोलनों की कड़ी में सचेतन कहानी एक योजनाबद्ध आंदोलन है। आंदोलनों में कई बार अजीबोगरीब मनोस्थितियाँ काम करती हैं। अगर इस मुद्दे पर ध्यान रखा जाये तो साफ जाहिर होगा कि जो लोग नई कहानी में वांछित अथवा उनके अनुसार मुनासिब जगह नहीं पा सके थे उन लोगों का प्रतिकार सचेतन में हुआ है। यों इस आंदोलन के पक्षधर तो यही सोचते रहे हैं कि सचेतन साहित्य विद्रोह का, कुछ कर गुजरने का, अपने अस्तित्व की सार्थकता प्रदर्शित करने का साहित्य है। परंतु एक तो चिंतन की दिशा अस्पष्ट थी दूसरे आंदोलन को स्थापित करने की कोशिश इतनी ज्यादा थी कि साधन बहुत कुछ हो गया और साध्य कुछ भी नहीं। गर्ज यह कि कोहरा जहां अलग किया जाना चाहिए था वहां कोहरा ही था और अलग किये जाने के नाम पर कुछ भी नहीं।

पिछले दस वर्षो में रोजमर्रा जरूरत की सभी चीजों की कीमतें राकेट की तरह छूटती रही हैं और जनसाधारण के बूते से बाहर होती चली गई हैं। उसकी चादर लगातार इतनी छोटी होती चली गई कि उस के पांव तो क्या वजूद का बहुत बड़ा हिस्सा नंगा रह जाता है। चादर को कभी अपने मुंह सिर पर लपेटता रहा है तो टांगे सर्द रातों में ठिठुरती रही हैं। टांगे ढांपता रहा है तो

बाकी का वजूद सर्दियों की बर्छिया हवायें सहने को मजबूर होता रहा है। इसी जोड़ तोड़ में चादर कई जगहों से फट गई है और मुरम्मत की हद से परे चली गई है। चादर में थिगलियां लगाने की कोशिश बराबर होती गई लेकिन उसकी उपयोगिता बढ़ने की बजाय लगातार सीमित होती चली गई है।

आस पास की हवा में आजादी के गीतों के टुकड़े उसके कानों से जब भी टकराये हैं तो उसने धूप में जलती हुई बारिश में भीगती हुई तथा सर्द हवाओं में फड़फड़ाती हुई चादर को देखा है।

अब मौसम की मार से गीली चादर को फिर से अपने ऊपर ले सकने के लिए और सुरक्षित होने के लिए सुखाना चाहा है तो वह रुष्ट मौसम के दूसरे हथियार हवा की मेहरबानी से उड़ गई है। वह उसके पीछे भागा है तो फिसल कर खाई में जा पड़ा है। बनावटी मुस्कराहटों और मुखौटों द्वारा फैंकी हुई योजनाबद्ध राजनैतिक रस्सी के सहारे बाहर निकलना चाहा है तो पाया है कि वह रस्सी नहीं थी सांप था, फुंकारता हुआ।

'गरीबी हटाओ' 'संपूर्ण क्रान्ति' 'नसबन्दी' 'नशाबन्दी' जैसे बीस पच्चीस सूत्रीय पंचशीलपरक नारों के उपहासास्पद विरोधाभासों ने नारों की अस्मिता को इस दर्जा जंग लगा दिया है कि अब नारों को सन्देहशील नजरों से देखना गैरवाजिब नहीं लगता। पिछले वर्षो में नारों की भव्यता ने कमजोर पाचन शक्ति के कारण अक्सर खोखलेपन की उल्टी की है। जन सामान्य की लगभग नंगी देह पर इस हैजे के छींटे पड़े हैं।

ऐसे कहानीकार जिन्होंने जन साधारण की समस्याओं की आग अपनी त्वचा पर महसूस की है और उस तंग चादर के बाहर ठिठुरते हुये अपनी छोटी छोटी इच्छाओं के कमजोर बूते को पूरे शिद्दत से महसूस किया है और जीवन के हर सुख के क्षण को अभावों के लकवे से भरा हुआ पाया है, बिना किसी नारे या परचम के अपनी ईमानदाराना सोच के तहत रचनाधर्मिता को सार्थक दिशा दी है। उनकी कहानियों की मूलचेतना पूंजीवादी व्यवस्था के कारण लगातार बढ़ती रहने वाली क्रूरता, पाशविकता, अमानवीयता, घृणित विरोधाभासों और भ्रष्टाचारों के विरुद्ध रहती है। उनकी बेबाक चिंतन-शीलता समकालीन तंत्र के 'आकटापस' पर पूरे जोर से आक्रमण करती है।

मेहनतकश जनता के संघर्ष में उनका जिम्मेदाराना रवैया सामाजिक जीवन के अनेक विडंबनाग्रस्त पहलुओं का साक्षात्कार करवाता है। इतना ही नहीं, अपने जीवन की तंग चादर के पीछे भागते हुये लोगों को संगठित हो कर खाई पाटने और नये सिरे से चादर बनाने के लिए घनीभूत जड़ता को काट कर उन लोगों से चादर हासिल करने के लिए प्रेरित करता है। प्रेमचंद को इसीलिए लेखक सच्चाई की मशाल लेकर आगे चलने वाला जान पड़ता है। 'आदमी की चेतनात्मक ऊर्जा और जीवंतता की कहानी कहने के लिए उन्हें किसी कथा आंदोलन, उछाड़-पछाड़, धर-पटक, खींच-खिंचाई अथवा लटकेबाजी की कतई जरूरत नहीं होती। इस तरह संशय की गुंजाइश यह भी रह जाती है कि इस तरह के कथा आंदोलन किसी तरह के नेतृत्व प्रवर्तन, मठ बनाने और एक सर्वथा अलग तथा 'नूतन क्षितिज उद्भासित' करने का श्रेय प्राप्त करने के लिए छेड़े जाते हैं।

पिछले दिनों आम आदमी की खास अंदाज में कुछ विडंबनाओं का उपयोग शक्लोसूरत से ठीक ठाक लगने वाले कहानी आंदोलन में पूरे लेखकीय लेकिन गैर जिम्मेदाराना दायित्व के साथ किया गया। यह कहानी आंदोलन था—सामांतर कहानी आंदोलन। इस आंदोलन में शुरू किया गया था कि कहानी वैयक्तिक तथा क्षणवादी टाईप के नितात रूपवादी लेखन, जिसकी आधार शिला कुंठित सैक्स, नकार, अनास्था, अनर्गल या अश्लील जैसे शब्दों पर है, से अलग हट गई है। यहां से अलग हटना सामांतर में हिमालय विजयी नजरों से देखा गया है। मूलतः सामांतर कहानी संसार जिस अनुभव खंड से हमें साक्षात्कार करवाता है, वह इस प्रकार का अनुभव है कि ज्यादातर लोगों की जिंदगी बेहद घटिया, बेहूदा और गलीज है और बाकी लोग जो कुछ पढ़ लिख गये हैं और कुछ सहूलियतें बनिस्वतन ज्यादा पा गये हैं इसलिए यह बात कुछ संतोषजनक है और थाली के बैंगनों के लुढ़कने का मौका अच्छा है। सामांतर कहानी आंदोलन ने अपनी खोखल प्रतिध्वनियों के कारण एक प्रकार की जड़ता को जन्म दिया है और सामान्यजन की चादर-रहित देह पर बर्फानी हवाओं में जल छिड़क कर तर्पण का ढोंग किया है।

सक्रिय कहानी का एक उद्देश्य रचना की मुक्ति भी है। इसके सम्बंध में कहा गया है कि रचना को भी बंधक मजदूरों और जरखरीद गुलाम औरतों की की तरह पूंजीवादी और सामंतवाद की अत्याचार और आदमखोर संस्कृति

के स्वार्थो की चक्की में पिसना पड़ा है। जिस प्रकार आदमी और समूचे जन समाज की मुक्ति आदमी की निजी और सामूहिक कोशिश द्वारा ही संभव है, उसी प्रकार रचना और समूचे साहित्य की मुक्ति संगठित सक्रियता द्वारा ही संभव है। यहाँ साहित्य की मुक्ति जाहिर है कि वर्तमान तंत्र के शिकंजे और प्रभाव से चाही गई है। यदि साहित्य रचाव की भूमिका ईमानदाराना यत्न का प्रतिफल है तो रचना अपने स्वाभाविक रूप से मुक्त ही होगी। दूसरी तरह से देखा जाये तो रचना मुक्त कब होती है ? जब यह चिंतन का सीधा परिणाम है तो इसको व्यक्ति के चिंतन से किस तरह असंपृक्त किया जा सकता है। व्यक्ति का चिंतन यदि वामपंथी है तो रचना वामपंथी होगी ही। इस पर कोई अन्य फार्मूला लागू ही नहीं होता। प्राथमिकताओं को तय करना अपने परिवेश से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसी दिसबंर की कड़ाकेदार सर्दी में लाखों किसानों का किसान रैली के तौर पर इस्तेमाल किया गया है। इस किसान रैली के बारे में मौकापरस्त पत्रिकाओं के पन्नों पर भी छपा था कि वहां के भाषणों में किसान समस्या एक प्रतिशत और निन्यानवे प्रतिशत चौधरी जी की प्रशंसा थी।

पिछले दिनों प्राथमिकताओं के सवाल को मद्देनजर रखते हुये कुछ कहानियां सामने आई भी हैं (देवी सिंह कौन : रमेश उपाध्याय, डंडा: असगर वजाहत, खोखल: पंकज बष्ट, ठाकुर संवाद: सतीश जमाली, बूढ़े रिक्शाचालक का चित्र: सुभाष पंत, सुरक्षित पुरुष: रमेश बत्तरा, उठो लछमीनारायण: सुरेन्द्र मनन)

असल में प्राथमिकताओं का एक निश्चित फ्रेम खींचा ही नहीं जा सकता। जिस तरह चोरों के विज्ञान के तरक्की करते जाने के अनुपात से तालों का विज्ञान तरक्की करता है उसी तरह तंत्र की लंबी और विराट साजिशों के अनुरूप प्राथमिकताओं का रास्ता अपने आप स्पष्ट होता चला जाता है। आज कहानीकार को जिन विकट चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, जिस विस्तृत अन्धकार से जूझना पड़ रहा है, उससे अपने ईमानदाराना रवैये और विवेक के बूते पर तंत्र के मोहक आश्वासनों, पद लोलुपता की खुमारी, नये से नये खड़े किये जाने वाले भ्रम के रिश्ते, धर्म के व्यापक अफीमी संस्करण जो वास्तविक तथ्य रोटी के लिए लड़ने की बजाय धर्म के तथाकथित असूलों पर दंगा करवाते फिरते हैं, से निरंतर जूझ कर अपनी प्राथमिकताएं निश्चित करनी हैं।

□ जवरीमल्ल पारख

साहित्यिक प्राथमिकताओं के परिप्रेक्ष्य में

जनवादी लेखन की समस्यायें

आपातकाल की समाप्ति के बाद हिंदी में जनवादी आंदोलन को एक नई शक्ति प्राप्त हुई है। गैर जनवादी लेखन में ठहराव की स्थिति और जनवादी लेखन में सक्रिय गतिशीलता इस बात का प्रमाण है कि हिंदी में सगठित प्रगतिशील आंदोलन की तीव्रता के ठोस संकेत मिलने लगे हैं। लगातार होते हुए ये लेखक शिविर अपनी सीमाओं के बावजूद सार्थक संभावनाओं को भी रेखांकित कर रहे हैं। जनवादी साहित्य आंदोलन के दौरान साहित्य की समस्याओं पर विचार करना इन शिविरों की प्राथमिक आवश्यकता है।

अभी हाल ही में "दिनमान" में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने इस बात पर बल दिया कि समकालीन साहित्य को 'जनवादी' साहित्य की अपेक्षा जन साहित्य कहना ज्यादा उचित है। उनके शब्दों में-'जन साहित्य' ज़्यादा सार्थक शब्द है, वह बिना 'वादी' हुए भी लिखा जा सकता है। वादी होना एक आग्रह में बंधना है और दुराग्रही होना है। जनवादी कहना उस दुराग्रह के लिए रास्ता खोलना ही नहीं, उसका स्वागत करना है। यहां सवाल आग्रह और दुराग्रह का नहीं है, न ही किसी विशिष्ट राजनीतिक पार्टी का। जन साहित्य और जनवादी साहित्य का अंतर दृष्टिहीन और दृष्टि संपन्न साहित्य का है। गुलशन नन्दा के उपन्यास जिन्हें प्रेमचंद से कई गुना ज्यादा पढ़ा जाता है। जनसाहित्य हैं, जनवादी साहित्य नहीं। जनवादी साहित्य वह साहित्य है जिसमें जनता के मनोभावों की सही अभिव्यक्ति हो, जनता की इच्छाओं, आकाँक्षाओं और संघर्षों को प्रस्तुत किया गया हो, जिसकी मूल प्रेरणा जनता का सामूहिक हित हो। वाद शब्द से इतना बिदकने का कारण वह अकवितावादी और अस्तित्ववादी मनोवृति है जो विचार मात्र को कविता का विरोधी मानती है। जनवाद का

अर्थ मार्क्सवाद नहीं है। जनवाद साहित्यिक स्तर पर वह मोर्चा है जो पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध है किंतु जिसके हित केवल सर्वहारा के हित नहीं हैं अपितु सर्वहारा सहित समस्त मध्यवर्ग के हित संरक्षित हैं। क्योंकि वर्तमान व्यवस्था के शोषण का शिकार सर्वहारा वर्ग ही नहीं है अपितु मध्यवर्ग भी है। किंतु मध्यवर्ग की मानसिक बुनावट ऐसी है कि उसकी आकांक्षाएं उच्चवर्ग के समकक्ष होती हैं तो परिस्थितियां निम्नवर्ग के समकक्ष। परिणामतः मध्यवर्ग इन दोनों वर्गों के बीच झूलता रहता है। जनवादी साहित्य का यह भी कार्य है कि वह मध्यवर्ग की वास्तविकता को 'एक्सपोज' करे, उसे सर्वहारा के नजदीक लाये, वह अपने हितों को सर्वहारा के साथ जोड़कर देखे।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना लिखते हैं कि 'जनसाहित्य कोई भी लिख सकता है, जिसका जुड़ाव जन से हो, जो जनता की आशा, आकांक्षा, उसके संघर्ष और शोषण को पहचानता हो, उसे महसूस करता हो और उसके वैज्ञानिक आधार को समझता हो। सवाल यह है कि जिस 'वैज्ञानिक आधार' की बात स्वयं सर्वेश्वरदयाल सक्सेना करते हैं, वह क्या है। क्या वह 'विचार' नहीं है, क्या वह 'वाद' नहीं है। किसी भी साहित्य का वैज्ञानिक आधार वैज्ञानिक दृष्टि ही हो सकती है। हमारा आग्रह इसी वैज्ञानिक दृष्टि पर है जिसके बिना जनवादी साहित्य नहीं लिखा जा सकता। मैं समझता हूं कि केवल 'जन' शब्द से उस वैज्ञानिक आधार का संकेत नहीं मिलता जो रचनात्मक साहित्य के लिए अनिवार्य है, जन केवल समूह का द्योतक है, जनवाद उस जन के लिए संघर्ष करने वाली दृष्टि का भी द्योतक है। जनवाद कहते ही साहित्य में गुणात्मक अंतर आ जाता है।

समकालीन हिन्दी लेखन को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। प्रथम-पूंजीवादी, साम्राज्यवादी एवं सामतवादी व्यवस्था का पक्षधर और यथास्थितिवादी या शाश्वत विद्रोही, द्वितीय-वर्तमान व्यवस्था का विरोधी किंतु परिवर्तन की दिशा की अस्पष्टता या उदार बुर्जुआई प्रजातन्त्र का पक्षधर। तृतीय-वर्तमान व्यवस्था का विरोधी एवं समाजवादी व्यवस्था का पक्षधर! सभी स्तरों पर भारत में आज भी मूलतः संघर्ष प्रथम वर्ग से ही है अतः जनवादी साहित्य के मंच से दूसरे और तीसरे वर्ग को एकजुट होना चाहिए। पहले प्रकार का साहित्य निश्चिय ही प्रतिक्रियावादी साहित्य है और जनवादी साहित्य का ऐसे

साहित्य से विरोध है। जनवादी लेखकों को पहले प्रकार के साहित्य को साहित्यिक स्तर पर प्रभावहीन बनाना चाहिए। सामान्यतः व्यवस्था पहले प्रकार के साहित्य के प्रचार-प्रसार में सहायक होती है, दूसरे प्रकार के साहित्य का अपने ढंग से इस्तेमाल करती है एवं तीसरे प्रकार के साहित्य में बाधक होती है। पूंजीवादी-सामंतवादी व्यवस्था अपने को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए ग्राम जनता तक ऐसा ही साहित्य पहुंचने देती हैं जो उसकी व्यवस्था का विरोधी न हो। जनवादी साहित्य को जनता तक पहुंचने से रोकने का कार्य व्यवस्था प्रत्यक्षतः नहीं करती। ऊपर से देखने पर लगेगा कि भारत में हर तरह के साहित्य को प्रचारित-प्रसारित करने की छूट है किंतु, हकीकत इसके विपरीत है। जनवादी साहित्य का प्रकाशन ही पर्याप्त नहीं है, देखना यह है कि वह साहित्य कितने लोगों तक पहुंच रहा है। जिस देश में आजादी के बतीस वर्ष बाद भी साक्षर लोगों का प्रतिशत मात्र तीस है, वहां साहित्य के प्रभाव की सीमा को आंका जा सकता है। इसलिए हमारे साहित्य की पहली प्राथमिकता यह होनी चाहिए कि यह उन निरक्षरों तक भी पहुंचे जिनके लिए साक्षरता अब भी दूर का सपना है। निरक्षरों तक जनवादी साहित्य पहुंचाने के साधन हैं—साहित्य के लोकरूप। जैसे, लोकनाट्य, लोकगीत, छोटी छोटी लोक कथाएं आदि। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्तर प्रतिशत निरक्षरता ग्रामीण अंचलों से जुड़ी है जिन्हें जाग्रत और शिक्षित किए बिना हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते।

जनवादी साहित्य की दूसरी समस्या है अग्र किंतु वायवी क्रांतिकारी होना। केवल क्रांति का आह्वान करने से या राजनीतिक परिवर्तन को लेकर कविता करने से हमारा मकसद पूरा नहीं होता। साहित्य का लक्ष्य एक नये तरह का समाज निर्मित करना है, नये तरह का मानव बनाना है, नयी चेतना से युक्त नया मानव! हमारा हर साहित्यिक कदम इसी दिशा में होना चाहिए। यह कार्य सरल नहीं है। सैकड़ों वर्षो की मानसिक जड़ता को आसानी से नहीं तोड़ा जा सकता। हमारी पहली अनिवार्यता अपनी उस मानसिकता को बदलना है जिसकी जड़ों में भाग्यवाद, अकर्मण्यता एवं धर्मभीरूता कूट-कूट कर भरी है। यह वैज्ञानिक दृष्टि के विकास के बिना सभव नहीं है जिसका कोई प्रयास किसी स्तर पर नहीं हो रहा है - साहित्यिक स्तर पर भी नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि की परीक्षा लेखन की विश्व-दृष्टि से होती है और विश्व-दृष्टि

की परीक्षा संपूर्ण जीवन के संदर्भ में होती है। अतः हमें साहित्य रचना का विषय संपूर्ण जीवन को बनाना चाहिए। कथित क्रांतिकारी साहित्य कविमंचीय प्रभाव ही उत्पन्न कर पाता है। कविता में गोलियां चलती हैं, कहानियों में दंगल होते हैं और उपन्यासों में सीधे-सीधे क्रांति हो जाती है किंतु हमारी जिंदगी बादस्तूर वैसी ही चलती है। कहीं कुछ नहीं बदलता। फिर भी कहा जाता है कि हम यथार्थवादी साहित्य लिख रहे हैं। यह कैसा यथार्थवादी साहित्य है जो जीवन में कोई हलचल न मचाता हो। हमें विचार करना होगा कि यथार्थ का मतलब क्या है? क्या यथार्थ वह है जो हम जीते हैं या वह जो हम पुस्तकों में पढ़ते हैं। मुक्तिबोध ने कथा-साहित्य के संदर्भ में विचार करते हुए लिखा है कि—यह नहीं कि आज का कथा-साहित्य अयथार्थवादी है अथवा यथार्थ विरोधी है, बल्कि यह है कि लेखक यथार्थ के नाम पर अनुभूत यथार्थ (अपने जीवन के वास्तविक यथार्थ) से दूर निकलकर किसी और के यथार्थ से कहानियां और उपन्यास गढ़ना चाहता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि हमारे लेखक के पास प्रतिभा नहीं है, बल्कि यह कहना चाहता हूं कि उसमें मानवीय अंतरात्मा, मानवीय विवेक चेतना की हलचल मचाने वाली पीड़ा नहीं है, क्योंकि वह जरूरत से ज्यादा समझदार हो गया है और समझदारी का यह तकाजा है कि जिस दुनिया में हम रहते हैं, उससे हम समझौता करें (एक साहित्यिक की डायरी)

अगर हम पिछले दशक की जनवादी रचनाओं की ओर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि कई जनवादी रचनाकारों ने अनुभूत यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं की है। उनकी रचनाओं में जो अभिव्यक्त हुआ है वह या तो विचारधारा का सरलीकृत रूप है या अन्य रचनाओं का अनुकरण या अखबारी खबरों की देन। प्राय: एक सुविधावादी तरीका अपना लिया गया है कि जो जीवन हम जीते-भोगते हैं, उसकी अभिव्यक्ति न करें। अभिव्यक्ति होती है ऐसे यथार्थ की जो अनुभूत नहीं है, जिसे जिया नहीं गया है। हमारे साहित्य का लक्ष्य साहित्य का विकास करना ही नहीं है सामाजिक परिवर्तन में भाग लेना भी है, परिवर्तन को दिशा देना और उसे तीव्रता प्रदान करना भी है। हमें जीवन की अभिव्यक्ति भी करनी है, उस जीवन की जिसमें हमारी वैचारिक प्रगतिशीलता की वास्तविक परीक्षा होती है। अगर साहित्य जीवन पर कोई असर नहीं डाल सकता तो उसकी रचना निरर्थक है। जीवन साहित्य का कच्चा माल

तो है ही वह उसकी आलोचना का प्रतिमान भी है। जीवन-दृष्टि ही काव्य-दृष्टि का निर्माण करती है और काव्य-दृष्टि जीवन-दृष्टि में निरंतर परिवर्तन करती है। साहित्य में परिवर्तन जीवन में परिवर्तन की भूमिका भी है और परिणाम भी। इसलिए हमें यह विचार करना होगा कि हमारा जीवन-अनुभव कैसा है और कितना व्यापक है, हमारी जीवन-दृष्टि कितनी सम्पन्न है। सामान्यत: लेखक मध्यवर्ग से आते हैं। वैचारिक दृष्टि से प्रगतिशील होने के बावजूद जरूरी नहीं कि लेखक का जीवन भी उतना ही प्रगतिशील हो। उसके व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और सीमाएं, अपनी जीवन-दृष्टि को जीवन पर लागू कर उसका विश्लेषण करने की क्षमता का अभाव तथा पारिवारिक और सामाजिक संस्कारों की प्रबलता के कारण, जनवादी लेखको की रचनाएं भी अंतर्विरोधों का शिकार हो जाती हैं। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण लेखक साहित्य में सर्वहारा के जीवन को साहित्य का विषय तो बना देता है, स्थूल रूप में उसके संघर्ष को अभिव्यक्त भी कर देता है, लेकिन उनके जीवन की वास्तविक पहचान के अभाव में उनके अंतर्विरोध, उनकी शक्ति और सीमाएं चित्रित नहीं हो पाते। कई रचनाओं में तो लेखकों का सर्वहारा के प्रति भक्तिभाव ज्यादा टपकता है। इससे तो बेहतर यह है कि लेखक अपने ही वर्ग को साहित्य रचना का आधार बनाए। वास्तविकता यह है कि अब भी हिंदी में सांमती एवं पूंजीवादी संस्कारों के विरुद्ध एकजुट लड़ाई निर्णायक स्तर पर नहीं पहुंच पाई है।

जीवन का यथार्थ बहुत विस्तृत होता है और उसका आधार होता है सामाजिक परिवर्तन। सामाजिक परिवर्तन की भूमिका घर से बननी शुरु होती है। अगर व्यक्ति के पारिवारिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता तो घर के बाहर के सारे परिवर्तन खोखले प्रमाणित होते हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में—आज भी घर सामंती रूढ़ियों के गढ़ हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष करना भी जनवादी साहित्य के लिए अनिवार्य है। सामाजिक परिवर्तन के कार्य को समाज सुधारक संस्थाओं के भरोसे छोड़ दिया गया है जिनके चिन्तन का आधार वस्तुत: धार्मिक सुधारवाद है। मूलत ये संस्थाएं व्यक्ति में सांमती सस्कारों को और प्रबल करती हैं। इसी का परिणाम है कि अभी पिछले दशक में ऐसी संस्थाओं और धर्म गुरुओं का विशेष बोलबाला रहा जो इन संस्कारों को प्रश्रय और संरक्षण दे सके। जनवादी साहित्य में ऐसे विषयों को ले कर लिखने की

कोशिश नहीं की जाती। केवल उन विषयों को उठाया गया जो क्रांतिकारी और प्रगतिशील भी लगे और लेखक तथा पाठक के निजी जीवन में किसी तरह की हलचल पैदा न हो। समाज आप पर गुर्राये नहीं, व्यवस्था आप से विमुख रहे। आप छप जायें। सौ-हजार पाठक पढ़ के वाह वाही करें। एक दो मित्र आलोचना लिख दें। साहित्यकार का साहित्यिक कर्म समाप्त हुआ।

यथार्थ की अभिव्यक्ति के संदर्भ में ही आलोचनात्मक और समाजवादी यथार्थवाद का सवाल उठाया गया है। आज हिंदी में आलोचनात्मक यथार्थवाद की आवश्यकता है या समाजवादी यथार्थवाद की। जनवादी लेखकों में इस पर मतभेद हैं। मैं समझता हूं आज हिंदी में आलोचनात्मक यथार्थवाद की उतनी ही आवश्यकता है जितनी समाजवादी यथार्थवाद की, मक्सिम गोर्की ने रूसी क्रांति के बाद साहित्य के संदर्भ में विचार करते हुए समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति पर बल दिया था क्योंकि वहां पर एक नये प्रकार के समाजवादी समाज का निर्माण हो रहा था इसलिए गोर्की ने समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति पर बल देकर अपने समय की साहित्यिक आवश्यकता को रेखाँकित किया था किंतु हमारे देश की प्राथमिकताएं भिन्न हैं। यहां समाजवादी क्राँति का दौर नहीं है अपितु जनवादी क्रांति का दौर है। अभी भी आम भारतीय मानस सामंती संस्कारों से ग्रस्त है। व्यवस्था का स्वरूप जहाँ उदार बुर्जुआई प्रजाताँत्रिक है वहाँ प्रकृति सामंती, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी है। जून 1975 के पूर्व उभरे जन असंतोष के परिणाम स्वरूप व्यवस्था फासिस्ट चरित्र भी अपना चुकी है। ऐसे में राजनैतिक एवं साँस्कृतिक दोनों मोर्चो पर जनवाद को मजबूत करना अनिवार्य है। अगर जनवादी लेखक अपने क्षेत्र को संकीर्ण करते हैं और केवल समाजवादी यथार्थवादी साहित्य को ही जनवादी साहित्य स्वीकार करते हैं तो यह दूरगामी दृष्टि से समीचीन नहीं होगा। अत: आज उन सब साहित्यकारों को जो अपने साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति देते है उन्हें एक ही मच पर लाना चाहिए।

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति हो ही नही या भारतीय संदर्भ में समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति का समय नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गोर्की ने क्रांति के बाद के रूसी साहित्य के संदर्भ में किया था किन्तु आज 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' एवं 'समाजवादी यथार्थवाद' दोनों की अभिव्यक्ति जरूरी है।

जहां आलोचनात्मक यथार्थवादी अपने साहित्य में समाजिक यथार्थ की आलोचनात्मक अभिव्यक्ति करता है वहां समाजवादी यथार्थवादी अपने साहित्य में वस्तुगत यथार्थ का उसके क्रांतिकारी विकास की अनुरूपता में समाजवादी दृष्टि के आधार पर चित्रण करता है। समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष तथा वर्गीय असंगतियों का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन करता है। लूकाच तो यहां तक कहते हैं कि आलोचनात्मक यथार्थवाद की आवश्यकता सफल समाजवादी क्रांति के बाद भी रहती है क्योंकि क्रांति के साथ ही पूंजीवादी तथा सामंतवादी संस्कार पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाते। इन संस्कारों के विरुद्ध संघर्ष चलता रहना चाहिए।-

हिंदी में यथार्थवाद के नाम पर सदैव यथार्थवाद की ही अभिव्यक्ति नहीं हुई है बल्कि यथार्थवाद के नाम पर नव्य-स्वच्छंदतावाद, प्रकृतवाद मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आदि की भी अभिव्यक्ति हुई है। जनवादी साहित्य की प्रबल लहर के कारण कई लेखकों के लिए यह लहर भी एक फैशन की तरह है। उनके लिए जनवाद कोई आंदोलन नहीं है, साहित्यिक प्रतिष्ठा हासिल करने का एक जरिया है। इसलिए वे भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिए लिखते हैं। अगर भाषा पर थोड़ा अधिकार है तो एक-दो पाठों में रचनाएं प्रभावशाली भी लगती हैं किंतु गहन और सूक्ष्म विश्लेषण से रचनाओं का थोथापन साफ उजागर हो जाता है। इस प्रकार के छद्म जनवादी रचनाओं को वास्तविक जनवादी रचनाओं से अलग करना भी आवश्यक है।

रचना की सार्थकता का निर्णय इस बात से होता है कि रचनाकर का यथार्थ के प्रति कैसा रवैया है। वह यथार्थ को किस रूप में ग्रहण करता है। यथार्थ को यथावत् ग्रहण नहीं किया जा सकता न ही यथावत् प्रस्तुत किया जा सकता है। जहां ऐसा हुआ है वहां रचनाएं प्रकृतवादी हो गयी हैं। प्रकृतवादी रचनाओं में आलोचनात्मक दृष्टि का तो अभाव होता ही है लेखक की विश्व-दृष्टि का भी अभाव होता है। फलस्वरूप रचनाएं महज अखबारी खबरों सा प्रभाव छोड़ती हैं। दूसरी ओर अगर रचनाकार अपने वैचारिक आदर्श के अनुरूप यथार्थ की उपेक्षा कर केवल काल्पनिक यथार्थ की रचना करता है तो रचना वायवी आदर्शवादी हो जाती है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी लेखक यथार्थ को वस्तुगत सत्य से काटकर केवल आत्मगत रूप में ही देखता है परिणामतः यहां यथार्थ का एक पक्ष ही उभरता है। जनवादी लेखन के लिए

यह जरूरी है कि रचनाकार अभिव्यक्त यथार्थ को वस्तुगत सत्य से जोड़े, साथ ही रचना में अभिव्यक्त होने वाले वस्तुगत सत्य में निहित वर्गीय असंगतियों, संबंधों और संघर्षो को भी अभिव्यक्त करे। लेखक को वस्तुगत सत्य से इस दृष्टि से तटस्थ भी होना चाहिए कि वह अपने मन पर पड़ने वाले प्रभावों से संचालित न हो। लेखकीय दृष्टि या विचारधारा का उपयोग यथार्थ के द्वंद्वात्मक विश्लेषण में होता है। जैसा कि मुक्तिबोध ने भी संकेत किया है कि यथार्थ के इस विश्लेषण में लेखक अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को ही विचार समझ लेता है। परिणामत: रचनाओं में केवल मानसिक प्रतिक्रियाएं ही अभिव्यक्त होती हैं वस्तुगत सत्य पीछे छूट जाता है। धूमिल की कविताओं की मूल दुर्बलता यही है। इन मानसिक प्रतिक्रियाओं के कारण रचना अंतर्विरोधों का शिकार हो जाती है। कहीं तो मानसिक प्रतिक्रिया लेखक की वैचारिक दृष्टि से होती है तो कहीं परंपरागत संस्कारों से। अगर लेखक की वैचारिक दृष्टि भी अंतर्विरोधों की शिकार है तो रचना में एक साथ कई विचारों का मिश्रण नज़र आएगा।

यथार्थ की अभिव्यक्ति में लेखक विचारधारा का एक और ढंग से इस्तेमाल करता है। वह अपनी विचारधारा के अनुरूप घटनाओं को संयोजित करता है। अगर लेखकीय तर्क से वस्तुगत सत्य भिन्न दिशा में जाता नज़र आता है तो रचनाकर उसे जबरन अपनी दिशा में मोड़ लेता है। इससे रचना मे कथित विचारधारा तो अभिव्यक्त हो जाती है किंतु रचना में दरारें पैदा हो जाती हैं। दूसरा तरीका यह भी अपनाया जाता है कि लेखक अपनी विचारधारा को सूत्रबद्ध कर उसी के अनुकूल रचना का निर्माण करता है। यहां रचनाओं से वस्तुगत सत्य अभिव्यक्त नहीं अपितु विचारधारा के सूत्र अभिव्यक्त होते हैं। पूरी रचना विचारधारा को प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्त करती है। ऐसी रचनाओं को जब लेखक एक साथ वस्तुगत सत्य और विचार–धारा का वाहक बनाना चाहता है तो कदम-कदम पर रचना की सांस उखड़ती नज़र आती है और अंत तक जाते–जाते रचना पूरी तरह दम तोड़ देती है।

वस्तुत: वस्तुगत सत्य बहुत जटिल होता है उसे सरलीकृत करके प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। मुक्तिबोध की रचनाओं की जटिलता का मूल कारण यही है। वे वस्तुगत सत्य की जटिलता को खंडित नहीं करते। अपनी रचनाओं में उसकी जटिलता को बरकरार रखते हुए उसे अपनी वैचारिक दृष्टि से

विश्लेपित करते हैं। विश्लेषण की इस प्रक्रिया में वे अपनी मानसिक प्रति-क्रियाओं को अभिव्यक्त नहीं करते, बराबर उससे बचते हैं। जहां उन्हें वैचारिक निर्णय देना होता है, वहां प्रतिक्रिया विचारधारा से निःसृत प्रतिक्रिया होती है। जैसे 'अंधेरे में' कविता में —

कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूं
वर्तमान समाज चल नहीं सकता,
पूंजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता।
(मुक्तिबोध-चांद का मुंह टेढ़ा है।)

वस्तुगत जटिलता का द्वंद्वात्मक विश्लेषण न कर पाने के कारण रचनाकार आवश्यक और अनावश्यक विवरणों में भेद नहीं कर पाता। कई बार अनावश्यक विवरणों की प्रचुरता के कारण रचना में शिथिलता पैदा हो जाती है।

रचना में वस्तुगत सत्य की अभिव्यक्ति कितनी प्रभावकारी हुई है। इसका ज्ञान पात्रों के जीवंत व्यक्तित्व से होता है। 'गोदान' इसका ठोस प्रमाण है। वस्तुगत सत्य की सही अभिव्यक्ति से जहां एक ओर होरी और धनिया जैसे जीवंत एवं अविस्मरणीय पात्रों की सृष्टि होती है वहीं वस्तुगत सत्य के प्रति लेखक के पूर्वाग्रह के कारण मेहता एवं मालती का चरित्र कमजोर पड़ जाता है। चरित्र-निर्माण में वस्तुगत सत्य निर्णायक भूमिका निभाता है। कई जनवादी लेखक अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों की सृष्टि करते हैं जो उसके विचारों एवं आदर्शों का वाहक तो हो जाता है, उसमें अदम्य शक्ति सी भर दी जाती है किंतु जीवन में ऐसे सक्रिय नायकों के दर्शन नहीं होते। अतः उनका सारा साहस, सारी शक्ति एवं सारे आदर्श थोथे नजर आते हैं। यशपाल, नागार्जुन जैसे प्रगतिशील लेखक ही नहीं आज सभी जनवादी लेखकों मे भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। अगर पात्र को अपनी वर्गचेतना की सीमा में ही वर्गीय चेतना में आने वाले परिवर्तनों असगतियों एवं संघर्षों को वस्तुगत सत्य के परिप्रेक्ष्य में चित्रित नहीं किया जाता तो पात्र कितना ही क्रांतिकारी क्यों न हो वह कृत्रिम लगने लगता है। काशीनाथ सिंह का 'सुधीर घोपाल' ऐसा ही पात्र है।

'सक्रिय नायक' की सृष्टि का तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे अदम्य विशिष्ट

और अद्वितीय पात्र की दृष्टि की जाए जो दिव्यता का आभास दे। सक्रिय नायक वर्गीय पात्र होता है जिसमें अपने वर्ग की चेतना का पूरा प्रक्षेपण होता है। उसकी विशिष्टता यह होती है कि वह अपने वर्ग को गति प्रदान करता है। वह अपने वर्ग की सीमाओं को तोड़ता है, उसकी चेतना का विकास करता है। उसकी सक्रियता उसके व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग होती है जो सदैव ऊर्ध्वमुखी होती है।

जनवादी लेखन की समस्या केवल वस्तु की समस्या नहीं है। रूप और संप्रेषण की समस्या भी है। साहित्य के क्षेत्र में रूप और वस्तु का विवाद नया नहीं है। जनवादी रचनाकारों में वस्तुवादी दृष्टिकोण के कारण वस्तु के प्रति विशेष आग्रह दिखाई देता है एवं रूप के प्रति उपेक्षा दिखाई देती है। रूप के प्रति सजगता के अभाव में रचनाएं संप्रेषण की दृष्टि से कमजोर हो जाती हैं। वैसे तो किसी रूपहीन वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती और न ही वस्तुहीन रूप की। किंतु साहित्य के संदर्भ में इसका मतलब है कि वस्तु के सर्वथा अनुकूल रूप का निर्माण। वस्तु के अनुकूल रूप का निर्माण भाषा से होता है। भाषा सामाजिक वस्तु है और किसी भी व्यक्ति के द्वारा व्यक्त होने वाले प्रत्येक भाव और विचार कितने ही व्यक्तिगत क्यों न हो भाषा का रूप धारण करते ही वे एक सीमा तक अपनी व्यक्तिपरकता खो देते हैं। यह सत्य है कि हरेक लेखक भापा का निजी ढंग से प्रयोग करता है लेकिन संप्रेषण की सीमा के अंतर्गत ही। यहां भाषा का तात्पर्य व्याकरणिक भाषा से ही नहीं साहित्यिक भाषा से भी है। लय, गति, छंद, मात्रा, अलंकार, बिंब, प्रतीक, फैंटेसी, मिथक आदि की भापा।

साहित्य में जब वस्तु और रूप में असंतुलन होता है तब संप्रेषणीयता में कठिनाई आती है। मान लीजिए कोई लेखक नई विषय वस्तु को किसी पुराने फार्म में ही प्रस्तुत करता है तो उन पाठकों के सामने संप्रेषणीयता की कठिनाई पैदा हो जायेगी जो उस विशिष्ट फार्म में विशिष्ट विषय वस्तु को पढ़ने के ही आदी हैं और इस नई विषय वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पायेंगे और उसे 'रचना' के रूप में अस्वीकार कर देंगे। दूसरी कठिनाई यह आएगी कि लेखक उस पुराने फार्म में अपने नये भावबोध को उस शक्ति के साथ संप्रेषित नहीं कर पाएगा क्योंकि नई विषय वस्तु एक नये रूप की भी मांग करती है। अगर कोई लेखक अपने नये भावबोध को पुराने फार्म में प्रस्तुत

करता है तो उसका रचनात्मक प्रयोग भी हो सकता है। नया भावबोध एवं पुराना फार्म रचना को व्यंग्यात्मक बना देता है। रूप और वस्तु का यह विरोध मानवीय नियति की विडंबना के प्रतीक रूप में भी प्रस्तुत हो सकता है और कथ्य को व्यंग्यात्मक धार देने के लिए भी कभी-कभी किसी रचना में कथ्य और रूप दोनों ही प्राचीन होते हैं लेकिन भावबोध नवीन होता है। इस प्रकार की रचनाएं भी संप्रेषण में अत्यंत सफल होती हैं। जैसे पंचतन्त्र की कहानियों के आधार पर लिखी गई कहानियां। लेकिन यहां भी द्वंद्व (प्राचीन कथ्य और नवीन भावबोध) से उत्पन्न व्यंग्य ही है।

संप्रेषणीयता की समस्या नये भावबोध एवं नये रूप में भी आती है। यहां कठिनाई पाठकों का साहित्य की नवीन परम्परा से अपरिचय के कारण पैदा होती है। जब साहित्य के विकास और पाठक की मानसिकता के बीच अंतराल स्थापित हो जाता है तो नवीन साहित्य को पाठक वर्ग सहजता से स्वीकार नहीं करता। साहित्य के विकास के दौरान ऐसी स्थितियां आ जाती हैं जब साहित्य समाज के विकास से अधिक तीव्र गति से विकसित होता है। परिणामत: साहित्य और समाज में खाई बढ़ने लगती है। वर्तमान हिंदी साहित्य और भारतीय समाज की स्थिति ऐसी ही है। साहित्य में लेखक जिन नवीन मूल्यों को स्थापित कर रहा है वह हमारे समाज में कहीं नहीं दिखाई देते। ऐसी स्थिति में यदि साहित्य पाठकों के मानस में स्थापित मूल्यों से सीधे-सीधे नहीं जुड़ता या टकराता तो ऐसे साहित्य का कोई अर्थ उस समाज के लिए नहीं रह जाता। इसलिए जनवादी साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक विकास और साहित्य विकास में अंतः संबंध टूटना नहीं चाहिए।

हिंदी साहित्य की परंपरा का विकास उसकी जातीय परंपरा के संदर्भ में ही हो सकता है। रचना एक ओर जीवन से जुड़ी होती है तो दूसरी ओर वह अपनी साहित्यिक परंपरा का विकास भी करती है। साहित्य की परंपरा का विकास साहित्य की परंपरा को जाने बिना नहीं हो सकता। जब तक हमारे बहस के विषय समकालीन साहित्य तक ही सीमित रहेंगे तब तक हम अपनी साहित्यिक परंपरा का सार्थक विकास नहीं कर पायेंगे। जनवादी आंदोलन से जुड़ी लघु पत्रिकाओं को देखने से ज्ञात हो जाएगा कि सामान्यत: प्राचीन मध्ययुगीन साहित्य के संबंध में कोई नवीन दृष्टि का लेख नहीं होता।

जनवादी साहित्य की समीक्षा का गंभीर प्रयास नहीं किया जाता। पिछले लंबे अरसे से मार्क्सवादी साहित्यिक इतिहास की आवश्यकता महसूस किए जाने के बावजूद इस ओर कोई गभीर कार्य नही हुआ है। परिणाम यह हो रहा है कि नये जनवादी लेखक अपनी परंपरा से बिल्कुल कटे हुए महसूस करते हैं। यह बात रचना और आलोचना दोनों के लिए चिंतनीय है।

(ग्वालियर में आयोजित जनवादी लेखक शिविर में पठित आलेख)

●

□ स्वयं प्रकाश

अयाचित

मैं दफ्तर में बैठा था। चपरासी ने आकर कहा कोई मेमसाब आपसे मिलने आयी है। इस शहर में मुझ कुंवारे से मिलने कोई महिला भी आ सकती है, यह बात मानने लायक थी ही नहीं। मैं खुद बाहर गया। सचमुच वे खड़ी थीं। सादा सफेद साड़ी, अधकचरे बाल और थका हुआ चेहरा। मैंने नमस्ते की। वे एकटक देखती रहीं और उनकी आंखों से टप टप आंसू टपकने लगे। मैं चकित था और परेशान भी। वह दफ्तर था और वे आखिर क्यों रो रही थीं? मैं उन्हें बिल्कुल नहीं पहचान रहा था। मैंने उन्हें भीतर चलने को कहा। वे रुंधे गले से बोलीं-नहीं पहचाना न? मैं कुसुम हूं।

मेरे दिमाग से धुंध बादलों की तरह हटने लगी। मैं उन्हें भीतर ले गया। फिर चाय। वे रूमाल से आंखें और नाक पोंछती रहीं।

करीब पच्चीस साल पहले मैं अपने पापा की साइकिल पर बैठकर शहर के दूसरे सिरे पर रह रहे एक सज्जन के घर जाया करता था। कभी-कभी। उनकी एक अठारह साल की लड़की थी। वह मुझ से बहुत प्यार करती थी। थोड़ी ही देर में वह मुझे नहला देती, पाउडर लगती, बाल बनाती, काजल लगाती और कई बार चूम लेती। यह उसका शौक लगता था। मैं इस दरम्यान उसका दिया केक चुगलता रहता या तैयार होने पर मिलने वाले केक की प्रतीक्षा करता रहता। मेरी दिलचस्पी केक में थी। उसकी लाड में। केक नहीं होता तो मैं भी नहीं होता और लाड के लिए मौका भी नहीं।

एक दिन हमारे घर देर रात तक जोर जोर से बातें हुईं। पापा उस लड़की के पिता और बाबा। पापा और सब लोग एक दो दिन तनाव में रहे। फिर मुझे कभी वहां नहीं ले जाया गया।

वह लड़की अपने एक प्रेमी के साथ भाग गई थी। कहा गया कि वह खो गयी और उसका कुछ अता-पता नहीं चला। प्रेमी कोई नीची जात का आदमी था।

वे सज्जन पापा के मित्र थे। उन्हें हम ताऊजी कहते थे। और वह खोयी हुई लड़की—कुसुम थी—यहीं जो मेरे सामने बेठी हुई है।

पच्चीस-छब्बीस साल बाद आप किसी से मिलें तो क्या बात करेंगे ? मैं इस बीच एक जवान आदमी हो चुका था और वे अधेड़। उनके मन में मेरे लिए प्यार की धाराएं फूट रही होंगी लेकिन मेरे लिए लगभग अजनबी हो गई थीं। मैं उनके लिए अपने मन में कोई कोमलता नहीं ढूंढ पा रहा था। मुझे यह भी लग रहा था कि मैं उम्र में इनसे इतना छोटा हूं कि उनके इतने बड़े जीवन संघर्ष के बारे में क्या पूछूं ? और क्या ये बता पायेंगी ?

लेकिन उन्हें भी भावुक नहीं होना था। चाय पीने के बाद वे सहज हो गयी और हममें ठोस सूचनाओं का आदान-प्रदान होने लगा।

पता चला वे यहीं पास के गांव में अध्यापिका हैं। उनके पति भी उसी स्कूल में अध्यापक हैं। वे कई वर्षों से मेरा पता लगाने की कोशिश कर रही थीं। अभी हाल ही में उन्हें पता चला कि मैं यहां हूं—और वे आ गयीं।

अब मुझे पता चला कि उनका अचानक दोबारा आना मुझे क्यों नहीं अच्छा लग रहा था ? क्यों नही मेरा दिल उनके स्वागत में खुल कर बिछ गया। क्योंकि वे एक विजेता की तरह नहीं एक सुधरे हुए अपराधी की तरह आयी थीं। चौथाई सदी पहले जिस लड़की ने घर से भागकर किसी 'नीच जात' के प्रेमी से शादी कर लेने का शानदार कारनामा किया हो, उसके चेहरे पर पुराने जांबाजों सी गौरवपूर्ण चमक...शहीदों-सी साहसपूर्ण विजय गमकती रहनी चाहिए। यहां क्षमा याचना करती सी दरिद्रता थी। पश्चाताप कर चुकने के बाद का हताश श्मशानी सीधापन। मेरे मन में जो कुछ कोमल था, वह खंडित होने लगा। क्या जिंदगी इतनी क्रूर है ?

वे अपने घर परिवार के बारे में बताने लगीं, मैं बेमन से सुनता रहा और सुनने से ज्यादा उनके सिर में लहरा रहे चांदी के तार गिनता रहा। पता चला उनके पांच बच्चे हैं। तीन लड़कियां और दो लड़के। एक लड़की की पिछले साल शादी हो गयी। बड़ा लड़का नवीं में पढ़ता है। इससे बड़ा एक

और था। लेकिन पिछले साल एक एक्सीडेंट में मर गया। वे मरे हुए बच्चे की बातें याद करके रोने लगीं। उसे मैंने कभी नहीं देखा था।

शायद मेरी अपेक्षाएं ही गलत थीं। मैं किसी और तरह की मां समझता था, समझना चाहता था उन्हें। दरअसल उनका एक दम औसत औरतपन ही मुझे खटक रहा था। जिनके जीवन में इतनी बड़ी क्रांति घटित हो चुकी हो, उनका दिल...दिमाग...आखिर क्या अंतर है इनमें और गायों की तरह दान-देहेज के साथ कहीं बांध दी गयी औरतों में ? मैंने सोचा मैं जल्दबाजी कर रहा हूं। मेरी रूमानियत को चाहिए उनके तजरबे को तमीज से देखे।

मैं उनके पिताजी के बारे में पूछने लगा। वे पी. डब्ल्यू डी. में स्टोरकीपर थे। बड़े रंगीन मिजाज और अय्याश तबीयत आदमी। गबन किया। फंस गये। नौकरी गयी। जेल हुई। अब वृद्धावस्था अपने इकलौते बेटे के पास गुजार रहे हैं। मेरे मन में एक धुंधली सी तस्वीर आगी। जर्मन ट्वीड के शानदार सूट में एक अधगजे, लबे रौबदार आदमी की। उसके चेहरे पर मैंने कुछ सफेद दाढ़ी-मूंछ चिपकायी। कमर कुछ झुका दी। चश्मा लगा दिया। सूट को खजैला कर दिया। फिर भी मज़ा नहीं आया। मैंने सोचा मारो गोली। होंगे कोई पिता। इनके।

और पच्चीस साल बाद का यह नाटकीय पुर्नमिलन इस नाटकीय बात पर समाप्त हुआ कि आठ रोज बाद उनकी लड़की की शादी है—और देख, मैं कार्ड तो तेरे लिए लायी नहीं, पता ही नहीं था तू मिल भी जाएगा—पर तू आना जरूर।

इतना ही भर वे कहतीं तो मैं शायद एक औपचारिक 'जरूर' कह कर सारी बात भूल जाता, लेकिन वे फिर रोने लगीं और रोते-रोते उन्होंने बताया कि उनके यहां कभी कोई नहीं आता। बड़ी लड़की की शादी के वक्त वे अपने भाई के घर गयी थीं—कभी न लौटने की कसम तोड़कर—और शादी में आने की दावत कबूलना तो दूर, पिता ने उन्हें अपमानित करके निकाल दिया था। और भाई...चुपचाप देखता रहा था।

पिता—जो मैं जानता हूं अपनी सारी पैत्रिक संपत्ति रंडीबाजी में होम देने के बाद, अपनी नौकरी और इज्जत-आबरू तवायफों और रखैलों पर निछावर कर देने के बाद, शराब और बीमारियों में गर्क हो जाने के बाद अपनी इकलौती लड़की पर चरित्रहीनता का लांछन लगाता है—कि उसने घर से भाग कर शादी

कर ली...और भाई....वह कैसा बीमार भाई है ? कैसी नपुंसक आत्मा है उसकी ? क्या उसे कभी जवान नहीं होने दिया गया ?...जबकि अब शायद उस बच्चे की भी कनपटियां सफेद हो चुकी होंगी। क्या वह भी कभी पप्प... पप्प...अम्म...अम्म....से आगे कुछ बोलना सीखेगा ?

मैंने कहा—और खुद से भी कहा—कि मैं जरूर आऊंगा।

और मैं सचमुच गया।

बहन लिपट कर रोने लगीं। बच्चे—और बड़े बड़े बच्चे जिन्हें मैं बिल्कुल नहीं जानता था, मामाजी, मामाजी, कहते लट्टूम गये। उनके पति...अब जबकि उनकी दूसरी लड़की की शादी हो रही थी, इस उम्र में भी पता नहीं कैसे उस संकोच में कमसिन हो गये जो दूल्हे को पहली बार अपनी 'उन' के भाई यानी साले से मिलकर होता होगा। मैं उम्र में उन से बहुत छोटा था, सालोचित हंसी-मजाक नहीं कर सकता था, लेकिन मुझे बहुत जल्द वहां एक अपरिचित से एक रिश्तेदार में, बल्कि उसी परिवार के एक सदस्य में तबदील हो जाना था। मैं कोशिश करने लगा। हालांकि इस कलाकारी में एकदम कच्चा हूं।

वहां वह अल्पपरिचित बहन भी मुझे बहुत ज्यादा अपनी बहन लग रही थी। मुझे लगा अब मैं इससे कुछ निःसंकोच होकर बात कर सकता हूं, दूसरों के बारे में पूछ सकता हूं। उधर मेरे लिए चाय की तैयारी चल रही थी इधर मैं बहन को एक कमरे में ले गया। किंतु वहां वह लड़की बैठी थी जो अभी कुछ देर बाद दुल्हन बन जाएगी, वह सकपकाकर उठी और उसने मुझे नमस्ते किया। मैं उस लड़की को क्या देता ? कौन सी दुआ ? कौन सा प्यार ? कौन सी चुहल ? वह बाहर चली गयी। मैंने बहन से कहा—देखो, मैं तो कुछ समझता नहीं, और ऐसे ही चला आया हूं, तुम मुझे बता दो कि मुझे क्या-क्या करना है ?

बहन ने गद्गद् होते हुए कहा—तू आ गया यही क्या कम है ? कौन आता है मेरे घर ? और रोने लगीं।

मैंने कहा—उसे छोड़ो, पर लोग तो सोचेंगे ही न कि तुम्हारा भाई आया है तो क्या-क्या लाया होगा ! क्या-क्या होता है ?

कुछ सोचकर उन्होंने कहा—कुछ नहीं, तेरी तरफ से साड़ी मैंने बना ली है। उस पर एक नारियल। नारियल मैं रख दूंगी, तू एक रुपया रख देना।

वस, और कुछ नहीं करना है।

मैंने पूछा—तुम संकोच तो नहीं कर रही हो ?

उन्होंने कहा—कैसा संकोच ?

मैंने कहा—कुछ नहीं। और बाहर निकल आया।

उनके दोनों लड़के अब मेरा लाड कर रहे थे। एक चाय पिला रहा था। एक ने दूसरे को चीखकर हुक्म दिया—मामा जी के लिए पान ला। दूसरे ने एक से डांटकर कहा—मामाजी को पहले सिगरेट पिलाओ। दूसरे ने एक से कहा—साले, मामाजी सिगरेट नहीं पीते। दूसरे ने एक से कहा—पीते हैं मुझे मालूम है। है न मामाजी ? नहीं न मामाजी ? है न मामाजी ? मैं मुस्कुराकर चुप मार गया।

अब उसके पति की बारी थी। चाय पीकर मैं उनके साथ बाहर आ गया। मैंने कहा। जवांई साहब नहीं दिखाई दिये। वे बोले—उनकी तरफ भी उन्हीं दिनों एक शादी पड़ गयी। नहीं आ पाये। नहीं आ पाये जैसे एक शिकवे की तरह बोला गया हो। अब मैंने गौर किया कि बहन की तरफ से तो खैर किसी का नहीं आना तय था लेकिन इनकी तरफ से भी कोई नहीं आया है। दरअसल वहां एकमात्र मेहमान मैं ही था (और मुझे मेजबानी करनी थी) बाकी जो लोग थे वे बहन जा या मास्साब कहने वाले थे—और वे भी ज्यादा नहीं थे। माहौल कुछ यूं था कि जैसे शादी आज नहीं परसों हो।

—बारात कितनी बजे आनेवाली है ? मैंने पूछा।

—छह बजे का टाइम दिया है। उन्होंने कहा।

मैंने घड़ी देखी। चार बज चुके थे। और वहां कोई तैयारी नहीं दिखाई दे रही थी। मुझे ताज्जुब हुआ। चिंता भी। मैंने पूछा—रिसेप्शन कहां होगा ? क्या प्लानिंग है आपकी ?

बोले—यहां—क्वर्टर के सामने जो बास्केटबाल कोर्ट था उसकी तरफ इशारा करते हुए—सफ़ाई करवा देंगे और छिड़काव करवा देंगे। कुर्सियां लग जायेंगी। और...वहां...दूसरी तरफ क्लासरूमों के आगे एक बरांडा दिखाते हुए—खाना हो जाएगा। मैंने देखा वहां भट्ठी बनी हुई है। चार-पांच आदमी काम कर रहे हैं। सफेद कपड़े से ढंकी पानी की तीन-चार टंकियां...एक बड़ी परात में पूरी का पहाड़।

मैंने पूछा—खाने से पहले कुछ नहीं होगा ?

बोले—क्या ठीक होगा ?

मैंने पूछा—आपने क्या इंतजाम किया है ?

बोले—जैसा वे चाहेंगे कर देंगे। चाय या कोल्ड्रिंक।

मैंने पूछा—बारात में कितने आदमी हैं ?

बोले— पचास का कहा है। पर साठ-सत्तर भी हो सकते हैं।

मैं उनकी मूढ़ता पर हैरान था। अभी वे कितने निश्चित भाव से डोल रहे हैं।

मैंने कहा—सात बजे तक अंधेरा हो जाएगा। रोशनी का क्या इंतजाम है ?

बोले—क्वार्टर के आगे एक लट्टू टंगवा देते हैं।

मैंने कहा—बिजली चली गयी तो ?

बोले—गैसबत्ती तो मुश्किल है लेकिन...अरे...ऽ ऽ सुन तो...

छोटे—लड़के को आवाज दी।

मैं उखड़ गया। निकल गया। बाहर....गांव में भटकने लगा।

आखिर इन लोगों ने मुझे क्यों बुलाया ? मैंने झुंझलाते हुए अपने आपसे पूछा। किस चीज़ के लिए तरस रहे हैं ये लोग ? किस सड़े समाज के लिए ? कौन से रिश्ते-नातों के लिए ? जिसने इन्हें लात मारकर निकाल दिया... और जिसे ये मुंह चिढ़ा आये थे, अब उसीके सामने इतने घिघिया क्यों रहे है ? और....क्या वह सचमुच इतना शक्तिशाली है ? मैं उन दिनों की कल्पना करने लगा जब इन दोनों ने भागकर शादी कर ली होगी और एक कमरे में अपनी गृहस्थी शुरू की होगी। क्या देखा था बहन ने इनमें ? क्या सचमुच कोई क्रांति घटित हुई होगी इन लोगो के जीवन में ? या दूसरे ही दिन से इन्होंने पछताना शुरू कर दिया होगा ? क्या इसी सामाजिक स्वीकृति की सनद के लिए मुझे ढूंढ़कर नहीं बुलाया गया ? क्या उस लड़की ने अपने मां-बाप की इस तड़प को वाहियात नहीं समझा होगा—जिसकी शादी हो रही है ? लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि बच्चे पूछते हों—मां, अपने कोई रिश्तेदार नहीं हैं क्या ? हैं तो अपने यहां आते क्यों नहीं ? अपन लोग कभी उनके यहां क्यों नहीं जाते ? हमें कोई चिठी क्यों नहीं लिखता ?

वहां मैं बुजुर्ग हो गया। लड़की का मामा। सब कुछ मुझे ही करना था।

सब कुछ मैंने ही किया। मेरे पास चार-पांच बच्चे थे बस। बारात वाले मुझे बुलाकर कुछ रस्मों के बारे में पूछते। मैं शादी - ब्याह की रस्मों के बारे में बहुत कम जानता हूं। अंधे आत्मविश्वास से एक को हां एक को ना करता गया। लिहाज़ा कई ऐसी रस्में करवा दीं जो होनी ही नहीं थीं, और कई ऐसी खा गया जिनकी बहन लोगों ने पूरी तैयारी कर रखी थी। खा गया तो खा गया। विवाह का मतलब तो गपड़ शपड़ है। क्या फर्क पड़ता है? कबीलों की प्रथाएं हैं जो दोहरा रहे हैं खामखां। मैं सर्वेसर्वा हो गया तो क्यों न थोड़ी खिल्ली उड़ाता?

लेकिन वह लड़की जिसकी शादी होने वाली थी—और जिसका मैं नाम तक नहीं जानता था—अब एक रस्म थी कि उसे मैं गोदी में उठाकर दूल्हे के चारों तरफ कुछ चक्कर लगाऊंगा। पता नहीं कितने। मैंने इससे पहले कभी किसी जवान लड़की को गोद में नहीं उठाया था। मैं ज़रा मुश्किल में पड़ गया। मैं सोचने लगा कि यह क्या सोचेगी?

खड़े-खड़े मुझे ख़याल हुआ कि लड़की रो रही है। आसपास हम दोनों के सिवा कोई नहीं है। मैंने पूछा—ये शादी तुम्हारी मर्ज़ी से हो रही है? कोई जवाब नहीं। मैंने पूछा—तुमने लड़के को पसंद किया है? कोई जवाब नहीं। देखा है? कोई जवाब नहीं। तुम्हारी राय ली गयी है? कोई जवाब नहीं। तुम किसी—घूंघट उलटकर कातर दृष्टि से उस लड़की ने मुझे देखा— मामाजी...मेरे सामने तो वे मौके भी नहीं हैं जो मम्मी के सामने थे। इस बात का महत्व ही क्या है कि लड़का मुझे दिखाकर मुझ से 'हां' कहलवा ली गयी या नहीं। पर मैं पूछती हूं अभी शादी करना ही क्यों ज़रूरी है? अभी मैंने सिर्फ़ दसवीं पास की है। क्या पापा मुझे कालेज नहीं भेज सकते थे? मैं ग्रेजुएट होना चाहती हूं। टीचर बनना चाहती हूं। क्यों मुझे अभी से वहां गोबर थापने और बच्चे पैदा करने और उनके पोतड़े धोने और घूंघट मे घुटते रहने भेजा जाना ज़रूरी था? क्यों ये लोग इस बात से डरते है कि मैं पढ़ गयी तो किसी के साथ भाग जाऊंगी? क्यों ये अपने इतिहास की छायाओं से हमें बचाना चाहते हैं? हम तो उस पर शर्मिंदा नहीं। ये लोग क्यों हैं?

मेरे पास उस लड़की के सवालों का कोई जवाब नहीं था। यदि होता भी तो कोई खुश करने वाला जवाब नहीं होता। पर सवाल मुझ से पूछा ही कहां गया था? यह तो मेरे दिमाग़ ने एक फ़ितूर खड़ा कर दिया था पल दो

पल के लिए। मेरा दिमाग़ ही ख़राब है। वरना बाकी लोग भी तो थे, तमाशे में मगन, रस्मों को चूसते हुए।

बहन पचास जगह पचास जनों को बता चुकी थीं मेरा भाई आया है। उनके पति हाथ-पांव फुलाये घूम रहे थे या झगड़े मोल ले रहे थे। और मैं? आवभगत और बारात वालों की—चाहे उनमें कुछ चुग़द ही थे—मक्खन बाज़ी में लगा था और बात-बात पर हें-हें कर रहा था। सारा स्वाभिमान और सारी प्रगतिशीलता और सारी क्रांतिकारिता मैंने पता नहीं कहां घुसेड़कर छुपा ली थी। बहन के लिए और लड़की के लिए हर पल मेरा ढेरों खून जल रहा था। वह भी क्यों नहीं भाग गयी? पर मियां...जब तुम्हारी बहन भागेगी...उफ। हमारे विचार कहां हैं और आदर्श कहां और आचरण कहां और हम कहां??

बहन चकरघिनी बनी हुई थी और उनके पति एक-एक रस्म के लिए छोटी से छोटी रस्म के लिए पंडितों पर जोर डाल रहे थे और दक़ियानूसियत के अवतार बने जा रहे थे। मुझे कोफ्त होने लगी कि क्यों आ गया?

प्यास लगी तो किससे मांगता? दोनों बच्चे जो मामाजी को लाड कर रहे थे, इस वक्त न जाने कहां थे। घुस गया और एक कोने में से एक जूठा गिलास उठाया और एक भगोने में डुबाया और बग़ैर देखे पी गया और अंधेरे बस्केटबाल कोर्ट में आकर चार कुर्सी मिलाकर पसर गया। बदन दुख रहा था। सारे लोग फेरों के लिए अंदर आंगन में चले गये थे। बच्चे इधर-उधर लुढ़क गये थे। सिगरेट सुलगा ली।

वह लड़की फिर आ गयी। दुल्हन की लकदक में। शायद पंडितों ने अभी उसे नहीं बुलाया। प्रारंभिक पूजा-पाठ में भी कितना समय लगा रहे हैं। इस हिसाब से सुबह के चार बजेंगे। लड़की आकर मेरे एकदम पास खड़ी हो गयी। इस बार न पहले जैसे तेवर थे न घूंघट। एकदम परिणिता लग रही थी।

अच्छा मामाजी, मान लो मैं घर से भाग भी जाती, या किसी लड़के को चाहने भी लगती, और भाग कर उससे शादी भी कर लेती तो वह इस शादी से किस तरह अलग होती? क्यों आप उस तरह की शादियों को इतना अच्छा समझते हैं? क्या बुरा किया पापा ने? जब मरना ही है तो वहीं क्यों न मरो जहां चार जने कंधा देने वाले तो मिल जाएं!...बोलो न मामाजी!

—मेरे पास तुम्हारे सवालों के जवाब नहीं हैं। क्योंकि मैं तुम्हें नहीं जानता। न मुझ में इतनी हिम्मत है कि कहूं भाग कर मेरे पास आ जाओ, आकर रहो,

कालेज जाइन करो, जो बनना चाहती हो बनो, मैं हर संभव सहायता करूंगा। पर मैं तुम्हारी जगह होता तो असुरक्षा के डर से इस तरह कांपने नहीं लगता, यह तय है।

वह हंसी। खिलखिलाकर हंसी। जैसे मेरा मज़ाक उड़ा रही हो। और लहरा कर चली गयी।

बड़ा बच्चा मुझे झिंझोड़ कर जगा रहा था। चाय लाया था। मेरे लिए। होटल से।

मरो। सब मरो मेरी बला से। मैं खीझ गया।

सुबह विदा हुई। सब रोये। वह लड़की मुझसे भी लिपटकर रोयी। बतौर रस्म। और फिर भाइयों से लिपटकर रोने लगी। उसके दूल्हे ने मेरे पांव छुए। मैं उसका ममिया ससुर था। मैंने ग्यारह रुपये दिये। उसने ले लिये।

इसे कहते हैं साला पतन। सुरक्षा का ख़याल दिमाग की सारी बुलंदियां दबोच लेता है। चाहे अपनी सुरक्षा का ख़याल हो चाहे दूसरों की। लगा जो सोचकर आया था....कि समाज द्वारा प्रताड़ित बागियों को ये एहसास कराने जा रहा हूं कि समाज वह ही नहीं है जो उनको जीवनभर आतंकित करता रहा है बल्कि समाज हम भी हैं जो उन्हें सही समझते हैं...उस एहसास की यहां किसी को ज़रूरत ही नहीं है।

थोड़ी देर बाद मेरी भी विदा हो गयी। अगले दिन ड्यूटी जाइन करनी थी।

मुझे अधूरे काम याद आने लगे। यहां न आता तो वे पूरे हो जाते।

□ चित्रा मुद्गल

ज़हर ठहरा हुआ

देहरी लांघने ही जा रहा था कि यकायक ठिठक गया।

किसी के उबकाने के तीखे-तीखे स्वर करेरे-करेरे से खिंच रहे थे। लगा भीतर मथती उमथाहट कलेजे समेत बाहर आ जाना चाहती है लेकिन जुबां तक आते ही पनियाती-पनियाती पलट पड़ती है। कौन हो सकता है ? अनी ? अनी ही होगी, सुबह कालेज के लिए तैयार हो रहा था तभी उसने भूमिका बांधी थी—लो अब भुगतो। आठ-दस दिन ऊपर हो रहे हैं। वह चौंका था और सशंकित दृष्टि अनी पर टिक गयी थी।

—यकीन करो।

—मगर कैसे हो सकता है। कहीं तारीख तो गड़बड़ नहीं कर रही ?

—गड़बड़ कैसी स्पष्ट तो है। चौदह को होली जली थी...पंद्रह को रंग चला। उसी रात की तो बात है...याद करो। भन्नाये थे, साली होली बेकार गयी...और पंद्रह से पंद्रह महीना हो गया। आज अठ्ठाईस है। मुझे तो हर बार चार पांच दिन पहले ही......

—हम तो पूरी सावधानी बरतते हैं। परेशान होते हुए उसने कहा।

—फालतू बात मत करो। एक बार की याद है......सब्र था...कितना मना किया पर माने ? तब तो अपने आप को बड़ा जानकार समझते हो। कुछ नहीं होगा ये दिन बड़े सेफ होते हैं...अब......

—अरे नहीं। सब ठीक होगा। उसे आश्वस्त करने के बहाने स्वयं चिंता मुक्त होना चाहा।

—सोच लेना। कोई बात है ही तो देरी करना उचित नहीं होगा न।

कालेज से लौट कर बात करता हूं, कहते हुए वह तत्परता से नीचे उतर गया।

आवाज नहान से आ रही थी। लंबूतरा आंगन सीमेंटेड है। जेठ की दोपहर में फर्श इतनी तपती है कि बिना खड़ाऊं के कोई पांव नहीं रख सकता वहां। सर्दियों में घाम के सरकते टुकड़ों में, खटोले भी सरकते रहते हैं। रौनकों से लदे-फदे खमसारों की छाया से गुजरता वह नहान की तरफ बढ़ा। घुमड़ता स्वर स्पष्ट होने लगा। तबियत बेहद बिगड़ी हुई है और घर कितना चियाया पड़ा है। ठंडा कोना ढूंढकर सब सो-सा रहे होंगे। आवाज कान में पड़ी भी होगी तो उन्हें क्या मतलब? किसी को किसी की फिकर नहीं। अम्मां को तो बहुओं से वैसे भी लगाव नहीं दिखता। बस रात दिन आजी की सेवा सुश्रुषा में व्यस्त रहती हैं। जब से उनका हगना-मूतना खटिया पर चल रहा है, वे अन्य झंझटों से भी निर्लिप्त हो गयी हैं।

नहान के भीतर झांका अनी को पुकारने ही लगा था कि अम्मां को देख स्वर गले में घुटक गया। माथे पर बल पड़ गये। आंखें गहरी और छोटी हो गयीं। उनकी डिगहाई धोती का पल्ला पीठ पर लटका हुआ, नहान के ऊबड़-खाबड़ फर्श पर सिमटे जमे पानी में लिथड़ रहा था। घूंघट में छिपे रहने वाले खिचड़ी बाल अंगुल रिबन बंधी चुटिया में गर्दन के नीचे झुकने और फिर उठने की प्रक्रिया में उठ-बैठ रहे थे। वे थुह...... ...थुह.........थुह कर थूक रही थीं?

वह पलटा। शिराओं में यक-बयक पिघला हुआ लावा बहने लगा। दूसरा ख्याल पुख्ता ही नहीं हुआ कि हो सकता है गर्मी खा गयी हों या खाने पीने में कुछ गड़बड़ हो गयी हो। हैजा भी तो बुरी तरह फैल रहा है इस इलाके में।

अपने कमरे तक पहुंचते-पहुंचते पैरों की धमक वजनी हो उठी। शरीर को लगभग घसीटता हुआ ही लाया। पदचाप अम्मां तक पहुंची जरूर होगी। मुड़कर देखा भी हो शायद। उनका ढाई साल पुराना रूप याद हो आया...... शन्नो का अस्तित्व समेटे उनका पेट डबल रोटी सा फूल गया था। वे चलती हुई नहीं लुढ़कती हुई महसूस होती? ठमके कद ने उनकी बेडौलियत में रही सही कसर भी पूरी कर दी थी। उन पर जब-जब निगाह पड़ती, वह शर्म सकोच से सिकुड़ने लगता। सामने पड़ जातीं तो पूरी कोशिश होती कि

व्यस्तभाव प्रदर्शित करता हुआ कन्नी काट ले। वे रोक लेतीं और कुछ कहने को होतीं तो हूं-हां करने में भी अजीब दिक्कत महसूस करता। दृष्टि कभी अलगनी पर फैले कपड़ों पर जा टिकती या खमसारों के पलास्टर झरे खंभों से जा लिपटती। अम्मां की समझ में आने लगा था। उसने समझा जो दिया था। चुप्पा तो वह है नहीं और न कभी रहा है।

तन्खवाह मिलते ही घर के हिस्से की किश्त उसने पहली बार अनी के हाथों भिजवायी थी। अम्मां ने पैसे उठा कर फेंक दिये थे। अनी ने अपने हाथ पैर जोड़कर अपनी स्थिति स्पष्ट की थी कि उन्होंने दिये, मैंने आपको लाकर दे दिये। मैं बीच में कहां आती हूं। ऊपर बैठे हैं चल कर बात कर लीजिए। न लेने हों तो उन्हें ही लौटा दीजिए।' अम्मा ने घर सिर पर उठा लिया। चीख-चीख कर रोने लगीं। अनी रूआंसी दौड़ती सी कमरे में घुसी थी और धम्म से पलंग पर गिरते ही फूट-फूट कर रोने लगी। वह मनाने के लिए आगे बढ़ा तो हाथ झटकते हुए बोली—छूने की कोशिश की तो अटारी से नीचे कूद जाऊंगी......मां बेटे के नाटक से मुझे क्या सरोकार......जो कुछ कहना सुनना है खुद हिम्मत करो। मेरी फजीहत क्यों करवाते हो? आगे से मुझे बीच में धकेला तो मुझ से बुरी........।

कमरे का दरवाजा भिड़ा हुआ था। उसने देखा अनी के चेहरे पर कोई तनाव नहीं। उसने बोझिलता झटकी और अतिरिक्त सहजता ओढ़ ली। पुरानी मानसिकता में वह कतई नहीं लौटना चाहता। मुमकिन है अम्मां के प्रति उसकी अशका वे सिर पैर की हो। भयंकर लू के दिन हैं......नहीं...है वही ......अम्मां को और कुछ हो नहीं सकता। हैजा भले ही सारे घर को हो जाए उन्हें फिर भी नहीं छू पायेगा।

अनी कोहनी आंखों पर रखे चित्त सो रही थी। दाहिनी बांह शन्नो को बगल में लपेटे हुए थी। मेंढकी सी चिपटी शन्नो के शमीज का घेरा गर्दन को ढ़के हुए था और घुंघराले बालों के बेतरतीब छल्ले टेबल फैन की हवा से फरफरा रहे थे। गहरे कत्थई रंग की झालर वाली कच्छी कमर से कुछ ज्यादा ही खिंची हुई उसके गोल मटोल वजूद को मासूमियत से सराबोर कर रही थी।

बड़ी भाभी उसे अक्सर छेड़ती है—कुछ भी कहो, यह पेट पोंछन गयी नल तुम पे है लाला। पुतलियों का भूरा रंग तक नहीं छोड़ा......तभी मन हुआ

कि शन्नो की आंखें देखे। अम्मां से बोलचाल नहीं है। शन्नों से भी नहीं। इच्छा ही नहीं होती। कभी इच्छा होती भी है कि उसकी रिबन बंधी नन्हीं नन्हीं चुटियां पकड़ चेहरे को झकझोर दूं...गालों पर चुटकी भर दूं......रक्तिम कानों को जी भर कर चूम लूं.......मगर तभी शन्नों शून्य हो जाती है। अम्मां का डबल रोटी सा फूला पेट उभर आता है, जो शन्नो को छूने से रोक लेता है। वह अजीब सी घृणा भाव में जकड़ा जाता है। लगता है कभी आवेशवश हाथ बढ़ ही गये तो उंगलियों में देह की सुगंध नहीं एक ज़हरीली लिसलिसाहट चिपट जाएगी जो धीरे-धीरे उसकी पूरी देह को फफोलों से भर देगी।

घंटो वह शीशे के सामने खड़ा अपनी आखों को निहारता रहा है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि हो सकता है शन्नो की पुतलियों का रंग भूरा हो पर उसकी पुतलियां हरगिज भूरी नहीं। भाभी की दृष्टि कमजोर नहीं तो 'कलर बलाईंडनेंस' शर्तिया है। शन्नों से वह कोई साम्यता नहीं चाहता। चाहना तो दूर संभावना तक सहन नहीं होती। और भाभी हैं कि एकदम उससे जोड़ देती हैं।

छः भाई बहनों में वह सबसे छोटा है (अब नहीं रहा। शन्नों ने उसे इस एकाधिकार से वंचित कर दिया है)। उसे अच्छी तरह याद है। आठेक साल का रहा होगा। काकी को पुप्पा हुई थी। बचपन की घुन्नु। सौर के के मुहारे खड़े-खड़े वह उस गोल-मटोल गुड़िया को लगातार तीन चार दिन तक देखता रहा था और गोद में खिलाने के लिए बेचैन होता रहा। सबने उसे मना कर रखा था कि वह न तो भीतर घुसे और न ही बच्चे को छुए। किंतु एक दोपहर जब सभी अपने-अपने ठौर पड़े सुस्ता रहे थे और घुन्नु को बगल में लिटाये काकी भी झपकी ले रही थी, वह सौर में घुस गया। घुन्नु को गोद में उठाया और भागकर दुछत्ती में जा छिपा। घुन्नु न रोती तो वह देर तक उसकी चुम्मियां लेता रहता। उसके छोटे छोटे रुई के फाहों से नर्म गुलाबी पैरों को सहलाता रहता।

बड़ी बुआ ने बेरहमी से घुन्नु को उसकी गोद से छीन लिया था। एक हाथ से कान उमेठे रहीं और दूसरा उसकी गालों पर तड़ातड़ चटखाती रहीं। अम्मां ने आगे बढ़कर उसे बुआ से छुड़ा लिया था। बड़ी देर तक वह उनसे लिपटा रोता रहा। समझ में कतई नहीं आया कि एक बच्चा सामने लेटा हो और उसे

छुआ नहीं जा सकता, खेलाया नहीं जा सकता। यह कौन सा नियम है कि वहां जाया भी नहीं जा सकता।

—काकी बच्चा कहां से लायीं ? उसने अम्मां से पूछा था।

—बाजार से खरीदकर। अम्मां का जवाब था।

—तो तुम भी एक घुन्नु खरीद दो। मुझे चाहिए। मैं काकी की घुन्नु को कभी हाथ नहीं लगाऊंगा।

—ठीक है ला दूंगी। जरा पैसे जोड़ लूं। खूब लगते हैं। अम्मां ने समझाया था। मगर कुछ ही दिनों बाद वह अपना आग्रह भूल गया था। घुन्नु सौर से बाहर आ गई और उसे न छूने की सारी वर्जनाएं टूट गयीं।

वर्षोपरांत जब नितांत अपनी घुन्नु की चाहत का बाल सुलभ हठ यथार्थ में अंकुरित होने लगा तो इस उम्र में छोटी बहन पाने की कल्पना किसी क्रूर श्राप की घिनौनी त्रासदी सी कालिख पोतने लगी। सबसे बड़ी जिज्जी चार बच्चों की मां है। जो अपनी बड़ी बेटी के हाथ चार साल पहले पीले कर चुकी हैं। उससे छोटे उमेश की शादी उसी साल हुई जिस साल उसका तिलक चढ़ा। बड़े और मंझले भैया के बच्चे भी कालेज जाने लगे हैं। गीता और सुषमा क्रमशः एक और दो बच्चों की मांएं हैं। उसकी शादी का चौथा साल है। बच्चे नहीं हुए तो सिर्फ इसी वजह से कि उसने और अनी ने नहीं चाहे।

शादी की पहली रात को ही तय कर डाला कि जब तक 'थीसिस' पूरी कर 'सबमिट' नहीं कर डालता और प्राध्यापक नहीं बन जाता। वह बच्चे के विषय में कतई नहीं सोचेगा। भूले-भटके गड़गड़ हो ही गयी तो 'क्यूरिटिंग' करवा देगा।

—आगे नहीं हुए तो ? अनी ने संशय प्रकट किया था।

—अनाथालय से ले आयेंगे। उसने सहज उत्तर दिया था। तब अनी मैट्रिक पास थी। शादी के पहले साल ही उसे 'फर्स्ट ईयर' परीक्षा में प्राईवेट कैंडीडेट के रूप में बिठवाया। पढ़ाने में उसकी भरसक सहायता की। और नतीजन सारी घरेलू उलझनों के बावजूद भी वह पास हो गयी। फिर वह खुद ही उत्साह से भर गयी। कस्बई सपनों के दायरों में सहासागर का विस्तार सरहदें तोड़ने लगा। इंटर भी हो गया। बी० ए० की तैयारी हो रही है।

अम्मां हैं। न कुछ सोचना चाहती हैं न कुछ समझना। वह दूसरों की भावनाओं की कद्र करना तो जानती ही नहीं। कारण हठवादिता भी हो

सकता है। उनकी बेशर्मी के कई जीवंत क्षण उसे भूलते ही नहीं। सामने जवान बेटा खटिया पर बैठा हो तो......नाउन काकी को मना कर सकती थीं। ग्राजी को इशारा कर सकती थीं या फिर बजाय वहां बैठे-बैठे मुस्कराने के उठ कर जा सकती थीं। मगर वे......।

तब सर्दियों के दिन थे। गुनगुना घाम था। खटिया पर टांगें लटकाये वह 'थीसिस' से संबंधित संदर्भ पुस्तक पढ़ रहा था। नाउन काकी की हुलसाहट ने तन्मयता भंग की।

—ग्रई दुल्हन। तुम्हुक कुछ है का? नाउन काकी का हाथ ग्रनी की साड़ी के 'प्लीटस्' के उभार पर था। ग्रनी ने झेंप कर उसका हाथ झटका था ग्रौर भीतर भाग गई थी।

चाय खत्म नहीं हुई थी। वह वहां से हटने की सोचने लगा। नजरों को जबरदस्ती किताब में ग्रटकाये रखा वह एकाएक उठ भी तो नहीं पा रहा था। तभी नाऊन काकी का जुमला जड़ कर गया—बधाई हो जिया, सास-बहुरिया का 'जापा' ऐकै सौर म निपटि जाई। फिर उसकी ग्रोर कटाक्ष कर हंसी—हम तो तुमसे 'नेगें' लायलोन की दुई साड़ी लेबै छोट्ट! ऐक मेहरिया कै, एक महतारी कै।

—छिनार! वहि से नेग-नेगार कै बात काहे करति है? दे-ले वारी ग्रबै तो हम जिंदा बैठी हन। ग्राजी की पोपली हिनहिनाती ग्रावाज़ से उत्साह छल-छलाया पड़ रहा था—नाती-पनाती साथे होई तो तोहिका बनारसी पहिराय देबै......मुतला, छोट्ट के बहुरिया के सच्ची कुछो है क्या?......जवाब ग्रम्मां ने दिया। पटरे पर बैठीं थिया कद्दूकस कर रही थीं—'नाऊन काकी कै बातें... कुछ नहीं है वहिकै। ग्रौर हंसने लगी थी—एक नेगे गा........'

—कौन महींना है, दुलहिन?

—तीसर। जवाब ग्राजी ने दिया—छोट्ट कै पीठ भरी........पूरी है...., खं, खं, खं, खं,...खासने लगी थी।

—उतर बैसाख तक जायी...कै दुलहिन? ग्राजी ने घरघराते गले से प्रश्न किया ग्रोर ग्रम्मां की तरफ सही है न, वाले ग्रंदाज से देखा।

वह बैठा न रह सका था। ग्रम्मां ने उसके लिये फिर चाय चढ़ा रक्खी थी। सुबह ग्रांगन में धूप सेंकना ग्रौर लगातार चार-पांच कप चाय पीना ही छुट्टी का शुगल होता है।

ग्रम्मां ने पीछे से ग्रावाज लगायी थी। जवाब उसने नाऊन काकी को

दिया —'ऊपर भिजवा दो काकी' तभी लगा था, अम्मां किसी ऐसी औरत में तब्दील हो चुकी हैं जिसे उसने आज से पूर्व कभी नहीं देखा......अम्मां का चेहरा बदल गया। आवाज बदल गयी...चाल-ढाल वह नहीं रही......कितनी बदसूरत और खौफ़नाक हो उठीं वे।

किताब उठा कर धर दी थी उसने। पैरों पर रजाई डाल बिस्तर पर लेटे-लेटे छत को घूरता हुआ सोचता रहा। इस उम्र में क्या शौक चर्राया है उन्हें? वे छः भाई बहन हैं........बच्चों के बच्चे हो रहे हैं.........और उनके भी। बूढी-बढऊ शर्म हया घोंट कर पी गये हैं?.........

उसी रात उसने अनी से कहा था तुम अम्मा को समझाती क्यों नहीं?

—क्या समझाऊं?

—यही कि.........। वह कह नहीं पा रहा था। अम्मां के लिये इस संदर्भ में किसी भी तरह की बातचीत उसे असमंजसता में डाल रही थी।

—यानी?

—आजी बता रही थी कि तीसरा महीना है.........सब के सामने बात जायेगी तो.........बेहतर है कि वे 'क्यूरिटिंग' करवा लें। बस एक दिन का तो काम है.........खर्चा भी ज्यादा नहीं लगेगा। मैं दे दूंगा.........तकलीफ भी नहीं होगी..........किसी को भनक भी नहीं लगेगी........., वह सारी बात, सारी घुमड़न एक ही सांस में कह गया। फिर खुद पर अचंभा भी हुआ। यही सब कहने के लिए वह पूरा दिन सोचता रहा था और अनी से कहने की हिम्मत बटोरता रहा था।

—मेरी शामत आयी है क्या?

—क्या मतलब? अनी के जवाब की तटस्थता ने उसे भड़का दिया।

—भड़कने की जरूरत नहीं है। जो झिझक तुम्हारे आड़े आ रही है, वही मुझे भी पस्त कर रही है। बड़ी जिज्जी से उनकी पटती भी ज्यादा है उन्हें समझा दो। अकेली वही कहने की हिम्मत कर सकती हैं.........

—यह भी ठीक है। सुझाव दुरुस्त लगा था।

घर पहुंचा तो अनी ने फौरन कमरे में पहुंचने का इशारा किया था और उसके आते ही किवाड़ भिड़ा, उसने एक सांस में सारी घटना ज्यों की त्यों सुना डाली थी।

—गनीमत है, तुम सामने नहीं थे। वरना.........अम्मां ने रो-चीख कर घर उठा लिया.........अरे वहि दहिजार कै हिम्मत कैसी परी रे.........बेटवा-बेटार तौ भगवान का परसाद होती है नहीं तो मनई तरसि जात है.......देवी-देवता मनावत है.........कथा भागवत सुनत है.........टोना-टटका करत है। तौनेऊ पै नहीं नसीब होति है.........औ फिन अबै तौ जिया बैठी हैं छांह घरे.........हमार तीज-त्यौहार करे वाली.........नेग-न्यौछावर घरे वाली.........पैदा करि रहैन है तौ का इन लठ् लुमड़न कै भरोसे ? जिनका अपनी मेहरियन कै चूतड़ चाटै से फुरसत नहीं मिलति.......?......

—बड़ी जिज्जी की जो दुर्गति की अम्मां ने.........तौबा। अभी तक वे अपने कमरे की कुंडी चढ़ाये भूखी-प्यासी भीतर बंद हैं.........और यह भी कहा—तुम्हें रहना है तो रहो नहीं तो अपनी मायी (अनी को) को लेकर कहीं अलग ठौर ठिकाना कर लो।.........

—भाड़ में जायें। वह भुन्नाया —और दो चार पैदा कर ले। बूढ़ी तो उनकी बहुयें हो रही हैं। उन पे तो बुढ़ापे का सुरमा सज रहा है।

अलग होने की धौंस का ख्याल आया.........

शुरू में अनी को इस घर में तमाम दिक्कतें महसूस होती रही 'नहान' में दरवाजे नहीं थे। 'टट्टी' के लिये तड़के लोटा ले खेतों में जाना होता। वह लड़ती। यूं खुले में नहाना और वह भी बहू का, कैसे हो सकता है ? वह दरवाजे की आड़ देने के लिये खुले हिस्से में भारी भरकम खटिया खड़ी कर देती और उस पर चादर या धोती पसार देती। सारे घर को खबर हो जाती कि इलाहाबाद वाली नहा रही हैं.........

रोज दर रोज अनी तुनकती—मुझ से नहीं होता कि लोटा लटकाती खेतों में जाऊं। एक टट्टी भी नहीं बन सकती क्या ? वह उसे औरों के 'एडजस्टमेंट' का उदाहरण देता तो वह पूछती—जो औरों के लिये ठीक है, वही मेरे लिए उचित है। यह कैसे मान लेते हो ?

एकाध बार उसकी परेशानियों में खुद को रख कर सोचा तो वे उसे वाजिब लगीं थीं और यह भी कि पति होने के नाते उसकी तकलीफें नजरअंदाज करना गैर जिम्मेदाराना हरकत होगी। वह कालेज के आस-पास एक या दो कमरे का अच्छा मकान ले सकता है और आने जाने की लंबी भाग दौड़ से भी बच सकता है। मगर अम्मां से इन कारणों और सुविधाओं के

लिए अलग नहीं हो सकता। तब न अनी इतनी महत्वपूर्ण हुई थी न तकलीफों को फेहरिस्त। युनिवर्सिटी में पहुंचने की जद्दोजहद तो जारी है ही उस वक्त बाहर जाना उचित होगा।

वह आखिरी दिन था। जब न तो वह अम्मां से बोला। न अम्मां ने ही अपनी तरफ से कोई पहल की। हमेशा की तरह तन्ख्वाह वाला दिन आया तो उसने पैसे अनी के हाथ से उन तक पहुंचाये थे। उन्होंने तिस पर भी हंगामा खड़ा कर दिया...मगर उसके बाद अपने और उसके बीच उन्होंने अनी को बतौर माध्यम स्वीकार लिया था। वे समझ गयी थीं और शायद खूब समझ गयी थीं कि वे चाहे जितना बोलने और बुलवाने की कोशिश करें। वह हां-हूं से न आगे बढ़ सकता है न ज़ाहिरी तौर पर उनके गैर जरूरी 'कृत्य' पर क्षमा ही कर सकता है। घर के माहौल से कन्नी काट उसने स्वयं को अटारी वाले कमरे में सीमित कर लिया था। शन्नो पैदा हुई थी...उसे पता भर चला, अम्मां अस्वस्थ हुईं...डाक्टर सिन्हा देखने आये...अम्मां ठीक हो चलीं, वह 'थीसिस' के सिलसिले को लेकर अधिक व्यस्त बना रहा। अनी शन्नो को कभी-कभार कमरे में साधिकार ले आती बावजूद उसकी अरुचि के। क्लेश से बचने के लिये इस बाबत भी चुप्पी साध ली। वैसे भी जब वह पढ़ रहा होता या लिखने-लिखाने में व्यस्त होता, अनी उसे ऊपर नहीं लाती। मगर वह अनी को शन्नो से कुछ अधिक जुड़ता महसूस कर रहा था, ऐसी तब्दीली के लिए वह अपनी व्यस्तता को ही कारण मानता।

एकाध बार उसके शन्नोपन की पराकाष्ठा ने उसे कचोटा भी। कालेज के लिये निकल रहा होता और वह फरमाइश कर देती—लौटते हुए जरा डेढ गज काली रिबन तो ले आना, साटन की नहीं, नायलोन की। या फिर—टीन की एक छोटी सलेट ला देना 'चाक' से कुछ खींचती-खांचती रहेगी।

—मेरे पास इन फालतू कामों के लिये कतई समय नहीं...दिन भर कोई न कोई बज़ार जाता रहता है...किसी से भी मंगवा सकती हो, समझीं? वह गुस्से में भन्नाया था।

और फिर पूरे रास्ते आत्मग्लानि मे घुलता रहा। अकारण अनी पर बिगड़ने का तात्पर्य? ऐसा तो कुछ नहीं कहा था बेचारी ने, महज़ कुछ चीजें शन्नो के लिये मंगवायी थी? वह एक अजीब सी मानसिक असंबद्धता में जकड़ा महसूस करता। जरा सी भी कोई बात उसे तोड़ देती। दुखी

कर देती और वह तनाव से खिचा-खिचा फटने लगता।

याद हो आती सहकर्मी शर्मा की शन्नो के जन्म पर दी गयी बधाई। कोशिश कर के भी वह अपने गुस्से पर काबू नहीं रख पाया था, उसका साधारण मजाक उसे भीतर तक वेंधता चला गया—यार, मान गये तेरे दद्दा को, हमें तो इस उम्र में जड़ी-बूटी लेनी पड़ेगी......पर सच्ची बताना यार। मजा आ जाता होगा न...ऊपर तुम लोग लगे हो और नीचे बूढ़ी-बुढ़ऊ...

—यू बास्टर्ड...। उसने शर्मा का कालर दबोच लिया था—गर्दन अलग कर दूंगा...

शर्मा ने बुरा नहीं माना, हंसते हुए उसका हाथ अलग कर दिया—ऐंठ क्यों गया बे साले? कैसी-कैसी बातें हम कर लेते हैं। अपनी हुई तो बदहज़मी हो गयी? बी सपोर्टिंग यार...कल को मेरा बेटा जवान होगा तो सीना ठोक के कहूंगा—पुत्तर। एक गर्ल फ्रेंड अपने लिये खोजना तो एक अपने पापा के लिये भी पटाना, अबे गर्व की बात होती है...एक तू है...दिमाग सड़ गया है तेरा...ठीक से रहा कर।

उसी क्षण उसे आभास हुआ था कि वह बद्‌मिज़ाज और अशिष्ट हो गया है। वह अंदरूनी तौर पर बीमार है और ऊपरी तौर पर ठहरा, संयत। दोनों ही स्थितियां असहज थी, खतरनाक भी, यह सही है कि निजी तौर पर वह बड़ा अनुशासनबद्ध दीखता है, चुप्पी के वक्त भीतर हो रहे वाद-विवाद में उलझा सोचता है, अपने ऐसा हो जाने के कारण और खोजता है उबरने के तरीके। सारी हलचल एक 'रियलाइजेशन' में खड़ा कर देती है, तब स्पष्ट हो जाता है कि अम्मां से कट जाना उसके उखड़े रहने का आखिरी कारण है। कट जाने के बावजूद भी वह निरतर उनकी उपस्थिति से आक्रांत रहता है, भले वे नीचे—आंगन, दहलीज़, खमसारों, कमरों...चौके में होती हैं और वह ऊपर अटारी वाले अपने बेहद छोटे कमरे में। जबकि वह नीचे भी नहीं उतरता। लगता है घृणाभाव का पिछला आवेग लगभग खत्म हो चुका है। कटे रहना आदत में समा गया है और बनी आदत के तहत वह उन्हें निभाते चला जा रहा है। फिर भी अनी से वह उनके विषय में जानना भी चाहता है। मगर सीधे-सीधे न पूछ कर कि वे कैसी हैं। पहले वह आजी की तबियत के बारे में पूछता है। फिर दद्दा की फिर बड़े भैया... गुड्डी,

किन्नी, हरीश, काकी, भाभी और...इन्हीं नामों के बीच आहिस्ता से अम्मां को शामिल कर लेता।

अब भी जब कालेज से लौट कर सीधा ऊपर जाने लगता है तो यह ख्याल हर बार आता है—पहले वह नीचे ठहरता था । अम्मां से सिफ उन्हीं के हाथों की चाय पीता। वे कभी किसी काम में उलझी होतीं और किसी बहू या लड़की को आवाज़ दे देतीं कि चाय का पानी चढ़ा दे तो वह जोर शोर से ऐलान कर देता कि वह उस चाय को हाथ भी नहीं लगायेगा। अनी अक्सर उस के अम्मांश के इन प्रसंगों पर तुनकती । और कहती कि उसके रहते वह उन्हें क्यों तंग करता है। घुमा-फिरा कर वह इसे उपेक्षा के रूप में लेती...

...बरसों हो गये झोल वाली उनकी खटिया में उनसे सट कर लेटे... चौके में खाना खाये...उनसे पैसे मांगे—झटक देती थीं—जा अपनी मेहरिया से ले।

दिल का कितना मजबूत हो गया है। मजबूत या ढीठ ? ढीठ ही शायद। 'नहान' के भीतर अम्मां हाल बेहाल जिस तरह उकला रही थीं, पिछले दिन होते तो वह घूम कर पलट जाता ? दौड़ कर उनके कंधे पकड़ लेता... पानी से लोटा भर कुल्ला करवाता...चेहरा धुलवाता....सिर का सरक गया पल्ला खींच देता...गोद में भर उठा लाता...खटिया पर लिटा देता....ऊपर से 'टेबिल फैन' नीचे मंगवा कर ठीक उनके सामने रखवा देता...

ऐसी अस्वस्थता ने जिस कुशंका की खरोंच से उसे सशंकित किया। वहां पिछले दिनों का मुक्त दुराग्रह जो घृणा भाव को तिलांजलि दे मात्र आदत भर बच रहा था, फिर से फन-फना कर जाग उठा, अम्मां...के प्रति भीतर की सारी सहजता एक ही झटके में भुरभुरा गयी...वह इस बाबत इतना भावुक क्यों हो उठता है ? अन्यों को अम्मां के इस पक्ष पर न आवेशपूर्ण पाया न कुंठाग्रस्त, सब उसे सामान्य और अपने दायरों में उलझे लगे। एक वही है जो समय, सिद्धांत, अच्छा-बुरा, वाजिब-गैरवाजिब की सडांध समेटे विसूरता रहता है और इसी चिंता में खोया कि लोग क्या कहेंगे ? सिर झुकाये निकल जाता है।

प्यास महसूस हुई। उठा। सुराही के मुंह पर औंधें गिलास में पानी उड़ेलने लगा। पानी की कुल-कुल से अनी की नींद उचटी तो झट से उठ कर

बैठ गयी—अरे !........कब आये ? खुले बालों को हाथों से मरोड़ 'जूड़े' में बांधते हुए उसने पूछा।

—घंटा भर हो गया।

—जगाया क्यों नहीं ? पलंग से नीचे उतर साड़ी की प्लीटस् ठीक करती हुई बुदबुदायी—पता नहीं आजकल क्या हो गया है........इतनी नींद आती है ....क्या लोगे ?

—चाय पिलवाओ तो तुम्हें एक बढ़िया न्यूज दूंगा।

—पहले ही बता दो ? वह ठुमकी।

—लंबी बात करेंगे।

अनी सिर पर पल्ला लेती हुई नीचे उतर गयी।

दिमाग में अम्मां वाला प्रसंग कौंधा। अनी से पूछ शंका निवारण कर ले कि क्या सचमुच शन्नो वाली स्थिति की पुनरावृत्ति ....फिर लगा पूछ कर क्या होगा ? जो होना होगा उसे वह बदल नहीं सकता। पहले ही कौन सा बदल पाया। आज मूड कुछ हल्का है, प्रसन्न भी। हालांकि सुबह अनी ने जिस गड़बड का संकेत दिया था, उसे ले वह दोपहर तक चिंतित रहा। फिर इस निश्चय पर पहुंचा। गड़बड़ अगर हो ही गयी है तो 'क्यूरिटिंग' आदि के चक्कर में नहीं पड़ेगा। लेटस वेलकम दिस गड़-बड़.........यह निर्णय सहजता से शायद इस वजह से भी ले पाया कि डा. मजूमदार का पत्र उसे दोपहर से पहले कालेज में मिला था। उन्होंने सूचित किया था कि अगले सत्र में डी. ए. वी. कालेज में उसकी नियुक्ति निश्चित है। हालांकि यह उनका पिछले दो वर्षों से आश्वासन था। विभागाध्यक्ष होने के नाते चुनाव का दारोमदार उन पर बहुत कुछ निर्भर करता था। थीसिस भी उसने उन्हीं की गाईडेंस में पूरी की है। अगले हफ्ते उन्होंने उसे कानपुर भी बुलाया है। मामूली औपचारिकताओं की खाना पूर्ति हेतु इस महीने के अंत तक वह अपनी थीसिस भी सबमिट कर देगा। टाईपिंग का काम लगभग पूरा हो रहा है। डा. साहब ने उसकी मेहनत के लिये उसे बधाई और शुभ कामनाएं भी दी हैं। और सचमुच.........यह पत्र पाकर वह बेहद खुश हुआ था।

मन ही मन सोचता रहा है। यहां से निकल जाए तो अच्छा है। अब मौका स्वतः ही हाथ आ गया। सतीश से कह भी आयेगा। दो-तीन कमरों का एक अच्छा सा मकान निगाह में रखे। अम्मां से दूर रहेगा तो ठीक

रहेगा। अनी सुन कर खुशी से चौंकेगी। इस सोच ने उसे रोमांचित किया।

रात ही वह कानपुर से लौटा था। खुश और चुस्त-दुरुस्त। थकान के बावजूद विस्तार से भविष्य की सुखद योजनाओं पर अनी से परामर्श करता रहा। उस वक्त वह खासे मूड में था। ....उस के खास मूड में होने की नितांत अपनी अभिव्यक्ति होती है। अनी,.........बाहों में कसी हुई और वह बातें करते-सुनते आहिस्ता से उसके कानों से बालों को हटा उन पर अपने होंठ धर देता।.........वदन से झरती सिहरन उसे गुनगुना कर देती।

मकान तीन कमरों का तो कम से कम चाहिये ही। अनी को वह ज़्यादा बड़ा लगा। दो कमरों का ठीक रहेगा। मगर लोकेलिटी अच्छी होनी चाहिये। बात दो कमरों पर ही तय हो गयी। घर के मामले में उसका कोई दखल नहीं होगा—यह भी ऐलान कर दिया उसने। मुश्किल से एक या दो लेक्चर हुआ करेगें, तो छोटे से स्टडी रूम में लिखने पढ़ने का काम नियमित करेगा। डा. साहब ने एक विषय सुझाया है कि वह उस पर समीक्षात्मक किताब लिखे.........और अभी से सोचना शुरू कर दे।

गड़बड़ वाले सिलसिले में अनी की पढ़ाई गड़बड़ायेगी। तो तय हुआ कि उस लफड़े से निवृत हो कर ही वह प्राइवेट इम्तहान बाद में दे लेगी। सारा कुछ सहेज़ लेगी। वह आश्वस्त रहे। अनी ने पूर्ण समर्पित भाव से कहा तो वह सचमुच निश्चित हो आया।

बीच में दबी जुबान से अनी ने शन्नो का प्रसंग उठाया तो उसने उसे फौरन घुड़क दिया—वे पैदा करते जायें और हम पालते जायें। यह नहीं होगा। यहां समझौते की गुंजाइश कतई नहीं। शन्नो को वह अम्मां से अलग कर कभी महसूस नहीं कर पाता। उसने स्पष्ट कर दिया कि उसका शन्नो से लगाव भी वह अगर झेलता है तो महज इस वजह से कि वह उसकी व्यक्तिगत सीमा का न अतिक्रमण करना चाहता है, न उस पर अपनी इच्छाओं को थोपना। हालांकि शन्नो निर्दोष है, मगर अम्मां को निस्संदेह उसने शन्नो की वजह से नकारा है। वह अच्छी तरह जानती है कि वह अम्मां के बगैर रहने की सोच नहीं सकता था। अनी से कहा भी करता, अम्मां को वह हमेशा साथ रखेगा.........उनके लिये एक कमरा अलग ही लेगा।

अन्नी को उसका तर्क कभी गले नहीं उतरा कि अम्मां और दद्दा के

अनिच्छित संबंधों के परिणाम का दायित्व वह एक नन्हीं बच्ची पर क्यों थोप देता है। वह अक्सर लड़ी भी है—अम्मां और दद्दा पर तो बस चलता नहीं, बस चलता है तो इस बच्ची पर। उससे नहीं बोलते.........क्या यह निर्णय गलत नहीं ?

और उसने अनी के सामने हथियार डाल दिये हैं। शन्नो के प्रति उसका व्यवहार उसकी भावनात्मक ठेस की प्रतिक्रिया है। उसे शन्नो से द्वेष न होकर भी है। और पता नहीं क्यों वह हरचंद कोशिश के बाद भी इस अनर्गल द्वेष से उबर नहीं पाया। उबर ही नहीं पाता। शन्नो हमेशा नाजायज़ संतान की कुरेदन से भरती रहती है। और अपनी इस कुरेदन को वह नये घर तक ढो कर नहीं ले जा सकता—इस संबंध में तुम जिद्द न करो तो बेहतर है।

अनी उसके 'मूड' के ख्याल से चुप हो गयी।

एक तो वे सोये ही बड़ी देर से थे। मुंह अंधेरे ही रोने-पीटने से सारे घर में जगहट हो गयी।

अनी ने झकझोर कर उसे उठाया—उठो ......उठो न। आजी......, वह समझ गया। आजी को आखिर मुक्ति अब मिली। अनी रुंधे स्वर में अपनी बर्फ हुई हथेलियों को उसके दोनों गालों से छुआती हुई बोली—मैंने कभी किसी को मरे हुए नहीं देखा, डर लग रहा है मुझे। वह पूरी तरह नर्वस हो उठी थी।

—मेरे साथ ही नीचे चलो न। मुझे सीढ़ियों पर डर लगेगा अंधेरा...। उसने मिन्नत की।

—अरे। कमाल है। वह उसकी बदहवासी पर हंस पड़ा—इतना डरने की क्या जरूरत है ? फिर उसकी नर्वसनेस का ख्याल कर वह उठ बैठा।

सीढ़ियों के ऊपर खड़ा रहा तो वह नीचे उतरने को तैयार हुई। आधी सीढ़ियों पर से पलटी...—ऊपर ही मत बैठे रहना। सारा घर जुड़ गया है।

बिना जवाब दिये वह कमरे में लौटा। आजी को देख-देख कर वह अक्सर सोचता। इस घिसट-घिसट के जीने से तो बेहतर है कि वे जल्दी पूरी हो जाएं। मगर अम्मां थीं कि दिनभर गू-मूत उठाते-उठाते भी उनकी खैरियत के गंडे-ताबीज बंधवाती रहती। और आजी......? उनकी

अभिलाषाओं का अंत था कहीं ? छोट्टू का व्याह देख लें तो मरे (उनकी शादी इसी लिए जल्दी भी हो गयी)......नन्हे को वेटा हो जाये तो .... सावित्री को इकलौता पोता हुआ है, मुंडन अपने महादेवन के चौर पर करवा ले तो मरे.......चुन्नु का 'जापा' देख ले......अनी अभी छूंछ है। कुछ हो जाये तो.......और अब तो उन्हें शन्नो के व्याह की दुर्श्चिता घेरने लगी थी......उसका व्याह अपने हाथों कर लेती तो......पीढ़ी दर पीढ़ी आशीषने के लिये वे हर बार मरना स्थगित करती रहतीं।

उसे आजी का वह आक्रोश स्मरण हो आया, जब शन्नो के समय 'आपरेशन' की बात उसने भाभी से कहलवायी थी। वे किस कदर शेरनी सी बिफरी थीं—कौनो चोरी छिनारा कै आय का जों गिरवा ले ?

रोने-पीटने के सम्मिलित स्वर कुछ अधिक ऊंचे हो उठे। अनी की हिदायत याद हो आयी। उसे नीचे होना चाहिये और वह बदन पर कुर्ता डाल नीचे उतर आया।

आंगन में जमघट किसी मजमेवाज के इर्द-गिर्द जुड़ी भीड़ सी घेरा डाले था। अंदाजा हो गया। आजी को बीच में लिटा रक्खा होगा। उसे देख लोगों ने हट कर रास्ता दिया। सांत्वना के कतिपय शब्द उसे ससंकेत संबोधित हुए।

गठरी ढंकी सी आजी......पांवों के करीब अम्मां थीं। उनका पछाड़े खाता रुदन उसे जड़ कर गया। औरतों ने उन्हें संभाला हुआ था। उस पर निगाह पड़ी तो रस्सा तुड़ाये गाय सी वेतहाशा लिपट गयीं।

पहली बार भीड़ में अम्मां का नंगा चेहरा देख रहा था। हमेशा होठों तक खिचे रहने वाले पल्ले में जब वे बहुओं के बीच बैठतीं तो लोग भरमा जाते कि सास कौन है, बहुएं कौन सी हैं।

अम्मां उसके सीने पर दहाड़े मार कर रो रही थीं। उसे महसूस हुआ, भीतर तक कुछ पिघल रहा है जो अनायास कोरों से उगता हुआ कोयों में धुंध सा पसरता-फैलता जा रहा है।

वे बोले जा रहीं थी। टूटे-टूटे वाक्यों में—जिया नही रही रे छोट्टू ऽ ऽ ऽ ऽ छांड़ि गयीं हमका.......अब हमका दुलहिन कहिके को पुकारी रे देइ ऽ ऽ ऽ ऽ.... को हमारा तीज त्यौहार कर री......को हमरे बरे 'नेग' न्यौछावर घर ऽ ऽ

री......आज हम वुढ़ा गईन रे छोटू, वुढा गईन...... जव तक जिया जिदा रही......हमका येहे लागत रहा कि हम वहुरिया हन.......रे हुं, हुँ, हुं, हुं... दैईया.... .. ।

......सच ही तो कह रही थीं अम्मां। वह सोच रहा था। जव तक किसी वड़े का साया सिर पर होता है, आदमी वचपना जीता है, जवानी जीता है......जिस दिन वह नहीं रहता, उम्र अपनी लंवाई ओढ़ लेती है...... वयालीस साल की दुलहिन, आज अम्मां रह गयी थीं......काकी, दादी, नानी, जेठानी......मात्र...... ।

घर में तेरह्वी के वाद का अतिरिक्त सन्नाटा था ।

उसने अम्मां को उड़ती-उड़ती दृष्टि से खोजा। कहीं दिखायी नहीं दीं। नियुक्ति पत्र की खुशी सवसे पहले उनसे वांटना चाहता था। और शायद....... वर्षोपरांत वह कालेज से लौट कर सीधा अपने कमरे में न जाकर नीचे ठहरा था।

ऊपर पहुंचा तो छूटते ही अम्मां के विषय में पूछे विना न रह सका।

शन्नो की विते भर की चुटिया पर रिवन का फूल वन रहा था—अम्मां तो कानपुर चली गयी दोपहर वाली 'वस' से ।

—कानपुर ? ....क्यों ? एकाएक........। वात चौंकाने वाली थी। अम्मां कहीं निकलती जो नहीं थी।

अनी ने शन्नो को—जा नीचे खेल आ, की हिदायत दे वाहर भेज दिया।

अनी ने उसके जूते के फीते खोलते हुए वताया। सुन कर वह सकते में आ गया। अम्मां पुष्पा जिज्जी के घर गयी हैं। दूसरा या तीसरा महीना था।—अव नहीं चाहिये और आपरेशन भी करवा लेगीं, इसी इरादे से—आयेंगी भी तो कम से कम पंद्रह वीस दिन वाद ही।

○

□ वीर राजा

खिड़की

जब मैं बोलने की सोच रहा था। उसी समय अध्यक्ष ने अंतिम शब्द कह कर गोष्ठी खत्म कर दी। किसी ने वहां हमेशा की तरह इस बात की जरूरत ही महसूस नहीं की कि मैं भी बोलने लायक हूं। मेरी उपस्थिति की अवहेलना करके वे हमेशा अपनी कार्यवाही जारी रखते।

अध्यक्ष की बातें सुनते-सुनते सभी ने अपने पाइप सिगार और सिगरेट मुंह में दबाये और अपने अपने नोटस संभालने लगे, जो अक्सर वे हर कहानी सुनते हुए लेते। बाद में उन्ही पर लंबी लंबी बहसें करते हुए विश्व प्रसिद्ध आलोचकों और विचारकों के हवाले देते हुए अपनी अपनी बात सिद्ध करते।

अध्यक्ष ने भी कहानी की प्रशंसा करते हुए जब कहा कि इस कहानी की आत्मा उस वर्ग के अनुकूल है, जिसे लेकर यह कहानी बुनी गयी है। उन लोगों का दम इसी तरह घुटता होगा। उन्हें भी स्वयं से बदबू आती होगी जिस तरह लेखक को अपनी खिड़की से आती रही। उस वक्त मुझे महसूस हुआ कि सभी की तरह अध्यक्ष ने भी उस वर्ग का अपमान न कर मेरा ही तिरस्कार किया है। यह पहला अवसर था जब मैंने अनुभव किया कि अब मेरे और इनके बीच वह रिश्ता नहीं रहा जो मैं हमेशा समझा करता था।

कहानी सशक्त थी। सभी को अपनी शैली और तीखी भाषा के बहाव में बहा ले गयी थी। प्रोफेसर राम पाल ने कहानी की भरपूर प्रशंसा की तो सभी उनकी लीक पर चल पड़े। सभी को महसूस होने लगा कि कहानी वास्तव में कोई अछूती रचना है। जबकि इस कहानी से मैंने स्वयं को अत्यधिक अपमानित महसूस किया। मेरे भीतर अजीब सी घबराहट थी कि इतने प्रतिष्ठित साहित्यकारों के बीच मैं अपनी बात कैसे समझा पाऊंगा। हूं

भी तो अकेला ही। मेरे पास इतनी सशक्त भाषा भी तो नहीं जो इन्हें प्रभावित कर सके। लेकिन जैसे तैसे मैंने कह ही दिया।

—अभी गोष्ठी खत्म नहीं होनी चाहिए थी।

—अब बाकी रह ही क्या गया है? जरूरत से अधिक चर्चा तो पहले ही हो चुकी है।

—एक अच्छी सिटिंग बर्बाद न करो।

—इसकी अनुमति मत दें। किसी ने शब्दों को चबा-चबा कर कहा।

वहां खलबली मच गयी। कोई नहीं चाहता था कि मैं बोलूं। बहुतों ने गोष्ठी बर्ख़ास्त करने की जिद की। किंतु मेरा बोलना जारी था। मुझे बोलते देख वे चकित थे चूंकि उनकी कल्पना में तो मैं बोल ही नहीं सकता था।

—आप मुझे सुने बिना नहीं जा सकते। मैं भी तो आपको कई वर्षों से सुनता आ रहा हूं।

—तुम कह भी क्या सकते हो? किसी ने मेरी तीखी आवाज की प्रतिक्रिया में कहा।

—नान सेंस। अध्यक्ष के पीछे से किसी ने मुस्कराते हुए व्यंग्य कसा।

—जिस वर्ग को लेकर यह कहानी लिखी गयी है मुझे उनके साथ लंबे समय तक रहने का मौका मिला है। उन्हें अच्छी तरह समझे बिना और उनके संसार के अंधकार से गुजरे बिना आप उनका उपहास उड़ाते हुए ये नहीं कह सकते कि वे समाज पर बोझ हैं।

—भाषण बंद करो।

—चुप करो।

—शोर मत करो। एक साथ कई आवाजें उठीं।

उनका क्रोध सही भी था। उन्हें मैं चुपचाप सुनता रहा था बिना किसी विरोध के। उनकी धाराप्रवाह अंग्रेजी ने मुझ में हीन भावना भर दी थी। मैं किसी तरह उनमें नहीं था। न तो मैं उनकी तरह उजला और धुला हुआ था और न ही किसी ऊंचे पद पर। मैं तो किताबों पर जिल्दें चढ़ाने वाला मामूली आदमी हूं। यही कारण था कि उन्होंने कभी मुझे उस रजिस्टर पर हस्ताक्षर करने को नहीं कहा जिस पर सभी साहित्यकार अपनी हाजिरी भरा करते थे।

—आपने उन लोगों को सिर्फ ऊपर से देखा है। उनके चिथड़े देखे हैं। उनमें कभी डूबे नहीं। उन की पहचान अपनी पसंद और अपनी दृष्टि से करते हैं। आप उनके बारे में कुछ नहीं जानते।

मेरी बात सुनते ही वे भड़के। सभी उत्तेजित हो गालियां बकने लगे। किसी ने गुस्से में कहा—ओ जिल्दसाज, तुझे कुछ अक्ल भी है? इडियट।

—भैंसा। किसी ने फिर व्यंग्य बाण छोड़ा।

संकेत उस भैंसे की तरफ था जिसने इन दिनों शहर में उधम मचा रखा था। वह सारा दिन बाजारों में घूमता रहता। जो चीज उसके सामने पड़ जाती उसे नष्ट कर देता। ठेले खोखे उखाड़ फेंकता। कितने ही लोग हड़बड़ी में घायल हो जाते। संभवत मैं भी उन्हें ऐसा ही लगा था।

—मैंने यह कहानी अपने व्यक्तिगत अनुभवः के आधार पर ही लिखी है। लेखक ने शांत व गंभीर स्वर में कहा।

—लेकिन हर व्यक्तिगत अनुभव वास्तविक सच्चाई तो नहीं होता?

—मेरा बरसों का अनुभव है। आजाद मैदान तो बिल्कुल मेरे घर के सामने है। अपनी खिड़की से जो देखता रहा हूं और जो मैंने महसूस किया है, उसे ही अभिव्यक्ति दी है।

—यही सच्चाई है। किसी ने हिकारत भरे स्वर में कहा।

—लेकिन इस कहानी में वह सच्चाई नहीं जिसकी वजह से ये लोग इस हालत में हैं।

—वह सच्चाई क्या है? लेखक ने जानकारी चाही।

—यही कि खिड़कियों से जिंदगी की धड़कनें महसूस नहीं की जा सकतीं।

लेखक ने 'आजाद मैदान की लाशें' कहानी पढ़ी थी जिसमें मैदान की अंधेरी झोंपड़ियों में रहने वाले लोगों को हीन तथा समाज पर अनावश्यक बोझ के तौर पर चित्रित किया था। उन्हें जुआरी, आवारा, अमली, जरायमपेशा और जाहिल बताते हुए उनके जीवन को व्यर्थ करार दे दिया था। कहानी डायरी शैली में थी। उन लोगों के बीमार जीवन, लड़ाई-झगड़ों, गंदे बच्चों, मौत की दहलीज पर खड़े बूढ़े लोगों के खांसने, गालियां बकने की जो प्रतिक्रिया लेखक पर हुई थी उसी का चित्रण था। उन लोगों के अश्लील मजाकों और गालियों का जो प्रभाव उसकी युवा लड़की पर हो रहा था उसका जिक्र कहीं ज्यादा था। वह

उन्हें खुले में संभोग करते हुए भी देख चुकी थी। यह रहस्य लेखक ने अपनी लड़की की डायरी से जाना।

जब कहानी पर बहस हो रही थी तो मुझे वे दिन याद आने लगे जब मैं घर से भागकर इसी बस्ती में आया था। घर का वातावरण काटने को दौड़ता। लगता दुनिया में मुझे कोई प्यार नहीं करता। सारी रात डरावने सपने आते जिनकी शुरुआत नदी पर नहाते हुए पकड़े जाने के बाद की मार-पीट से हुई थी। पिता ने इतना पीटा कि मुझे उनसे नफरत होने लगी। उन्हें देखते ही मैं खौल उठता। मेरी फिर पिटाई होती। मैं कोठरी बंद करके घंटों पड़ा रहता। पिता बोलते-बोलते थक जाते, तब भी दरवाजा न खोलता। सोचता, मर जाऊं।

चाचा जमीन का टुकड़ा हथियाने और मुझे रास्ते से साफ करने की कई साल से साजिश कर रहे थे। पिता को भी खूब भड़काते और खुद भी मुझे आवारा कहकर फटकारते। इन बातों का तीव्र एहसास तब हुआ जब न पिता थे और न ही वह जमीन का टुकड़ा। चाचा उस टुकड़े से अपनी आर्थिक सुरक्षा बना चुके थे और मैं कुछ प्रौढ़ हो चुका था।

—घर वालों की गुलामी से भागकर किसी कमीने की गुलामी से लाख बेहतर है मर जाना। जमूरे जिंदा रहना सीख। ये शब्द गफूर उस्ताद ने तब कहे जब मैं घर से भागकर यहां एक हलवाई की दुकान पर बर्तन मांज रहा था।

—उठ, थप्पड़ मारते हुए उन्होंने मुझे गाली दी थी—मर्द की तरह जी। और उसी दिन गफूर उस्ताद मुझे आजाद मैदान ले आये।

मेरी छोटी छोटी जरूरतें उनकी हो गयीं। मुझे लगता कि लोग मुझे चाहते हैं, प्यार करते हैं, इनके बीच रहते आत्महत्या की भावना से कब निजात मिली, मुझे याद नहीं। मदद के लिए इन्होंने कई बार स्वयं को खतरों में डाला, जिस जिंदादिली से इन्होंने दोस्तियां निभाई उन्हीं से मैंने इच्छापूर्वक जीना सीखा।

मुझे उन दिनों की अनेक छोटी मोटी बातें याद आ रही थीं। कहां होंगे उस्ताद गफूर? क्या कर रहे होंगे? वे दंगल याद आने लगे जो हमेशा उन्होंने जीते थे। फूलों के हारों से लदा उनका चेहरा बार-बार सामने घूम जाता।

तब पूरी कसरत के बाद कभी कभी पूरा दूध भी नहीं मिलता था चूंकि जो होता हम शागिर्दों को पिला देते। अब तो उन्हें कोई पूछता भी नहीं होगा मन ग्लानि से भर गया। काफी वर्षों से उधर नहीं गया था। बस उनके पास से गुजर जाता। अब तो मैदान चारों तरफ मकानों से घिर चुका है। तब शहर के बाहर था और अब शहर के बीचों बीच है।

गोष्ठी पुनः आरंभ हुई। मैंने सविस्तार अपने अनुभव बताये।

—आप अपने अनुभव के प्रति क्या सोचते हैं ? लेखक ने पूछा।

—हम खुली आंखों से भी वह नहीं देख पाते जो हर रोज देखते हैं।

—ऐसा क्यों होता है ? जानता है तू ? प्रोफेसर राम पाल ने आंखे तरेरते हुए पूछा।

—क्योंकि हम उसे महसूस नहीं करते। रोज की बातों के जब अर्थ बदल जाते हैं तभी चौंकते हैं।

—क्यों ? यह भी बता सकता है। आलोचक विश्वनाथ ने पूछा और खिल खिला कर हंस पड़े।

मैंने महसूस किया कि इन सारी बातों के बाद वहां दो धड़े बन चुके हैं। मैं खुश था कि लेखक मेरी बातों को समझने की पूरी कोशिश कर रहा है।

—लेकिन ये लोग हैं तो बोझ ही समाज पर। क्या योगदान है इनका सामाजिक निर्माण में, कुछ भी तो करते धरते नहीं।

—क्या है इस क्लास की स्वस्थ भूमिका ?

—जो समाज के योग्य नहीं वह मृत ही है।

कई आवाजों ने मुझ पर हमला किया तो मैंने कहा कि जो भी ये हैं, जैसी भी जिंदगी ये लोग जी रहे हैं, उनके लिए हमारा समाज उतरदायी है। देहातों से उखाड़े गए लोग तो शहरी सभ्यता में जैसे तैसे खपेंगे ही, इनमें उनका क्या दोष ?

—लेकिन जो लोग कुछ न करें उन्हें बोझ ही कहा जाएगा।

—ये तो विभिन्न अपराध भी करते हैं जिसका कहानी में जिक्र भी है।

—इनका एक ही अपराध है कि इन्होंने दूसरों के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया। हर कीमत पर आजाद रहने के लिए इन्होंने कष्टों में रहना पसंद किया। इसी आजादी की उमंग ने वह सब कुछ करवाया जो समाज में अनुचित है। बुढ़ापे में कुछ गलत आदतों के शिकार हो चरस-अफीम की गोली के लिए

तड़पें भले ही, पर मांगते नहीं। यह बोझ कैसे हो सकते हैं? मैं अपनी झोंक में बोलता गया। तभी किसी ने फिर कहा—भैंसे को कहो अब किसी दूसरी तरफ मुड़े। गोष्ठी बिना किसी निष्कर्ष के समाप्त हो गयी।

गोष्ठी के बाद मेरे कदम आजाद मैदान की ओर उठ रहे थे। लेखक भी मेरे साथ था। वह उन लोगों से मिलने को अब उत्सुक था जिन्हें वह बरसों से अपनी खिड़की के माध्यम से देखता रहा था।

मैदान अब वैसा नहीं जैसा उन दिनों था जब मैं यहां रहा करता था। झोंपड़ियों के गिर्द कांटेदार तारों का घेरा था ताकि और झोंपड़ियों न बन पायें, पर लोगों ने जहां भी थोड़ी बहुत जगह थी बेढंगी झोंपड़ियां और खोखे खड़े कर लिए थे। गंदगी पहले से अधिक है। वह खुलापन नहीं जो उन दिनों था। तारों के घेरे के बाहर मैदान खाली था सर्कस के लिए और नगर पालिका की तख्ती लटकी थीं।

हमें देखते ही कुछ लोग हमारी ओर लपके। वे मुझे अपने बीच पा चकित थे। यहां हो रही भगदड़ के बारे में मैंने पूछा तो मालूम हुआ कि थोड़ी देर पहले भैंसा रमिया ताई को जख्मी कर के कई झोंपड़ियां बर्बाद कर गया था।

—कहां है ताई? कभी मैंने उसके हाथ की बनी रोटियां खायीं थीं। वे मुझे दुलार में निखट्टू कहा करती। जब भी बाहर जाता चुपके से लाल मिर्चों की चटनी के साथ दो रोटियां मेरे थैले में डाल दिया करतीं।

उन्होंने बताया कि रमजान उसे अस्पताल ले गए हैं। उस्ताद गफूर, नत्था, चाचा,बिल्ला, नूपा, झुम्मन और सभी भैंसे के पीछे गए हैं।

—लाठियां लाओ, देख क्या रहे हो? सुनते ही लेखक ने घबराकर मेरी ओर देखा। एकबारगी तो वह कांप गया। लेकिन तब तक मैं एक लाठी पकड़ कर उधर भाग चुका था जहां बरगद के पास शोर हो रहा था।

बरगद पर सैकड़ों कौओं का बसेरा था। फड़फड़ाते कौए कांव-कांव करते ऊपर उड़ रहे थे और नीचे बच्चे, बूढ़े, जवान सभी भैंसे को घेरे चिल्ला रहे थे। भैंसा उत्तेजित और खूंखार था। उसे अपने सामने कोई रुकावट सहन नहीं हो रही थी। कई लोग भगदड़ में गिर पड़े। वे उठे और फिर उस पर हमला करने लगे। सभी उसे घेरकर नगर की गंदगी से भरे जा रहे गड्ढे में

गिराना चाहते थे।

उस्ताद गफूर किसी युवा लड़ाकू की तरह हाथों में रस्सा पकड़े अ—अ—आ, हू—हू—हू करते भैंसे की ओर लपक रहे थे। जवानी के दिनों सा नशा था। मानों अभी बढ़कर सामने खड़े पहलवान को पटखनी देंगे और ढोल ढमाके के बीच लोग उनकी जय-जयकार कर उठेंगे।

—इन्हें कुछ हो-हवा गया तो? मैं आशंकित हुआ। उनके हाथों से रस्सा छीना और उन्हें धकेलते हुए भैंसे की ओर दौड़ा।

—क्या कर रहे हैं आप? लेखक ने ऊंचे स्वर में कहा।

—अमां कौन है ये? उस्ताद गफूर क्षणांश के लिए मुझे पहचान नहीं पाये।

मैं भैंसे के सामने था। कई चीखें सुनायी दीं। दांयें-बांये से काकू पहलवान और दादा मुनि चीखते-चिल्लाते आ रहे थे। भैंसे ने अपना सिर मिट्टी में मारा। फिर दहाड़ा। हम तीनों पर लपका और तीनों को एक साथ उठा कर नीचे पटक दिया। काकू पहलवान की टांग टूट गयी और हम दोनों के सिर से खून बहने लगा।

हम तीनों के खून से लथपथ होने की खबर सुनते ही अनसूइया बाई दहाड़े मारने लगी—अरे मार डाला मेरे बच्चों को। सत्यनास हो इस मुए भैंसे का। पोपले मुंह से निकलते टूटते शब्दों, झुकी कमर, रूंआसी आवाज, ज्योतिहीन आंखे टटोलती चाल के बावजूद भी लगा कि अब भी उसकी हड्डियों में दमखम है। किसी ने मेरे ज़ख्मी होने के बारे में बताया तो वह दोनों हाथ फैलाती हुई हमारी ओर बढ़ी—कहां है वह। अरे मुझे उसके पास ले जाओ।

तीन चार आदमी काकू पहलवान को उठाए हुए थे। किसी ने सलाह दी—इसे जल्दी से कमेटी के अस्पताल ले जाओ।

बूढ़े लोगों को इतना निडर और उत्तेजित देखना आश्चर्यजनक था। कल्पना भी न थी कि इस उम्र में भी ये यूं भिड़ सकते हैं। गिरने से पहले हम तीनों के रस्से भैंसे की गर्दन में थे। सब उसे बांध कर तालियां बजाते, हो—हल्ला करते उसे खींचते हुए ले जा रहे थे। जिनके हाथ में जो चीज थी उछल रही थी। हर तरफ जीत और राहत का नशा था।

—काबू में आया बच्चू।

—यहां नही चलेगी तेरी।

—एक ही वार में हुआ मक्कू ठप्प।

—रास्ता देख ले...इधर न आना बेटा इब....इस के चूतड़ दाग दो।

इस तरह की आवाजों के साथ-साथ गालियां और अश्लील मज़ाक भी सुनायी पड़ रहे थे।

कुछ ही देर पहले मैदान के किनारे नगर महापालिका का ट्रक और करिंदे पहुंच चुके थे। क्षेत्रीय नेता तमाशाइयों की भीड़ में घिरे करिंदों को बता रहे थे कि भैंसे को पकड़वाने के लिए उन्हें कितनी दौड़ धूप करनी पड़ी—भय्या, मैंने फायर बिग्रेड, पुलिस, शासन तक को हिलाकर रख दिया।

ट्रक के पास पहुंचते ही भैंसा बिफर उठा। फुंकार के साथ उछला। नेता के साथ-साथ तमाशाइयों की भीड़ भी पीछे दौड़ी।

—कमबख्तो, एक भैंसे को भी काबू में नहीं कर सकते। नेता करिंदों को डांट रहे थे।

—तू तो नहीं ही कर सकता बेटा, पर हमने कर लिया काबू। हिकारत से भरा स्वर किसी और का नहीं, अपने उस्ताद गफ़ूर का ही था। सभी फटकार भरी हंसी हंसे। अनुसूइया बाई की फटकार के फलस्वरूप नेता ने कहा—मैं अभी अस्पताल वालों को फोन करता हूं कि घायलों की देख भाल अच्छी तरह करें वह और फट पड़ी। लगी उसकी सात पुश्तों को गालियां देने। बोली——बेईमान, अब की आना कागज डलवाने, दौड़ यहां से......।

जब भैंसे को ट्रक में लादकर ले जाया जा चुका तब सभी को एक दूसरे की चिंता सताने लगी। सभी पूछ रहे थे कि मैं कब आया ? किसने मुझे खबर की। वे अपनी चोटें भूलकर मेरे ज़ख्मों की फिक्र कर रहे थे। उस्ताद गफ़ूर चकित थे कि इतने वर्ष उनके साथ रेहने पर भी मैंने इतनी मूर्खता कैसे कर दी। अपनी बहादुरी का प्रदर्शन क्यों किया ?

—बेटे भैंसे को चालाकी से फांसा जाता है। आमने-सामने होकर नहीं। ताकतवर दुश्मन को हराने की तरकीब दूसरी होती है, समझा। उन्होंने अपनत्व से डांटते हुए कहा।

अचानक मुझे ध्यान आया कि काकू पहलवान और दादा सिर्फ मुझे बचाने में ही घायल हुए हैं। अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ।

—इसे देखो खुद लहूलुहान है पर मर हमारे लिए रहा है। चल फूट, कहीं

औरतों की तरह रोया जाता है, रे ? मेरी गीली आंखें देखते हुए दादा मुनि ने सिर पर हाथ फिराते हुए कहा ।

सब मुझे घेरे पूछ रहे थे । पिछले वर्षों में कहां रहा ? क्या किया ? मेरी पत्नी और बच्चों का हाल पूछ रहे थे । उन्हें मेरे चाचा और जमीन के टुकड़े की पूरी कहानी याद थी । इतने वर्षो बाद उनके बीच होने की खुशी अद्‌भुत थी । उनके छोटे-छोटे बच्चों को जवान देख कर अनुमान लगाना पड़ रहा था कि यह किसका बेटा है ।

जब मुझे पता चला कि मेरा बचपन का साथी निसार कानपुर की किसी मिल में काम करता हुआ मारा गया तो मैं उन दिनों में खो गया जिन्हें हम दौड़ में कभी मुड़कर नहीं देखते ।

लेखक ठगा सा भीड़ में खड़ा था । उसकी उदास आंखों में चमक थी । उसने एकाएक मुझे बाहों में भर लिया । उसके कपड़े, हाथ में पकड़ी रचना खून से सनी थी और माथे पर ज़ख्म था—इस भैंसे ने मेरी आंखे खोल दीं ।

मन में आया कि इससे पूछूं——किस भैंसे ने । पर उसकी आवाज़ में सच्चाई थी और मेरी बात अंदर ही घुटी रह गयी ।

—तुम्हारी आंखें तो पहले भी खुली थीं । पहली ही बार में यह सब कैसे हुआ ? इनके लिए जख्मी भी हुए । मैंने मजाक किया । पर वह किसी दूसरी दुनिया में लीन था ।

—आंखे खुलीं तो जरूर थीं......पर नहीं भी । ये बोझ कैसे हो सकते हैं ? उसने मुझे जकड़ लिया । वह भर उठा—मैं इस भैंसे को भी रोज देखा करता । सोचता कि क्या लाभ है इसका नगर को ? कितनी हानि पहुंचा रहा है ? शासन को कोसता, लोगों की उदासीनता पर क्रोध आता कि लोग ये सब कैसे झेल लेते हैं ? लेकिन यह बात एक बार भी मन में नहीं आई कि इससे निजात कैसे पायी जा सकती है ?

उसने रुककर घर की ओर देखा जहां छत के परनाले के साथ एक छोटा सा पीपल का पौधा खड़ा था । उसने हाथ के इशारे से कहा——वह रही मेरी खिड़की, वहीं से मैं रोज इन लोगों को देखा करता था ।

मैंने उस तरफ देखा—खिड़की पर नीले रंग का पर्दा लटक रहा था ।

—कितना अंतर हैं वहां के अनुभव और यहां के अनुभव में ।

मैंने उसकी बात को काटते हुए कहा—तुम एक अंतर तो भूले ही जा रहे हो।

—अब तुम उस गोष्ठी का पीछा नहीं छोड़ोगे। उसने प्यार से झिड़की दी।

वहां कोई हमारी बातें नहीं समझ पा रहा था। वे सभी उससे पूछ रहे थे—आप वहां सामने रहते हैं? आप किताबें लिखते हैं? आप मदरसे में पढ़ाते हैं? वह उनकी बातों का जवाब सिर हिला-हिलाकर दे रहा था।

उन्हें अस्पताल की ओर जाता देखकर लेखक ने मेरे कंधे पर हाथ रखा और हंसते हुए कहा कि अब यहां क्या कर रहे हो? चलो, अस्पताल चलें। क्या घायलों की खबर नहीं लोगे?

मैं सोचने लगा आदमी नए रिश्तों में कितनी जल्दी बंध जाता है।

☐ विष्णु नागर

रामजी दास

मेरे दोस्त हैं रामजी दास। पहले उदास और गमगीन आदमी के रूप में प्रसिद्ध थे। अब खिलखिलाते रहते हैं। जब से मिला हूं, बेरोजगार हैं।

जिन लोगों की प्रेमिकाएं हैं वे तो शाम के समय नज़र नहीं आते। हम ही लोग हैं जो शाम के समय यूनिवर्सिटी कैफे में बैठे रहते हैं। रामजी दास का वैसे यूनिवर्सिटी से कोई ताल्लुक नहीं मगर संयोग है कि वे हमारे मित्र हैं और हम उन्हें कैफे में बैठे-बैठे छेड़ते रहते हैं।

हुआ यह है कि हमारे ग्रुप के तमाम लोग लड़कियों को छेड़ने के 'अपराध' में उनके तथाकथित भाइयों के हाथों पिट चुके हैं। तब से हम लोग पंचर हो गये हैं। और एक रामजी दास हैं जिन्हें छेड़-छाड़कर हम अपनी अतृप्त इच्छाएं पूरी करते हैं। वैसे आप किसी गलतफहमी का शिकार न हों, वे कोई नाजुक चीज नही हैं बल्कि उनका चेहरा झुलसा हुआ है। वे अपने कुर्ते-पायजामें में अच्छे खासे कार्टून नजर आते हैं। उनके इस व्यक्तित्व ने ही साहस दिया कि हम इस किस्म की हरकत कर सकें।

अक्सर ही होता है कि हमारे ग्रुप के छहों लोगों के पास शाम के समय कोई करने लायक बात नहीं होती। रामजी को छोड़ सभी लगभग अलग-अलग विषयों के विद्यार्थी हैं, और ईमानदारी से पढ़ते हैं। इसलिए हमारे दिमाग में अपने-अपने विषय की ही बातें मंडराती रहती हैं। तब हम अपनी बोरियत से बचने के लिए रामजी दास को गुदगुदाते हैं। हम उनके पेट पर जरा सी उंगली फेरते हैं कि उनकी हंसी का एक अटूट सिलसिला शुरू हो जाता है। हम एक दूसरे को देखकर मुस्करा देते हैं और जब यह मुस्कुराहट लंबी नही खिंचती तो हममें से हरेक टेबिल पर उंगलियों से अपनी प्रेमिका का

नाम लिखने लगता है। ये प्रेमिकाएं ऐसी हैं जिनसे हमाराएक पक्षीय प्रेम व्यापार चलता है और ये प्रेमिकाएं नहीं जानती कि हम उनके प्रेमी हैं।

कल की ही बात है कि कैफे के अंधेरे में हम रामजी दास को गुद-गुदा रहे थे और अभ्यासवश ही वे खिलखिला रहे थे। उस समय हम थोड़ा 'आनंदित' अनुभव कर रहे थे कि अचानक उनके दांत गिरने लगे। वे काफी आगे झुके हुए थे इसलिए उनके दांत टूट टूट कर टेबिल की कांच पर गिरने लगे। इस प्रकार की आशंका तो हमे थी ही नहीं, इसलिए कांच पर कुछ गिरने की आवाज आयी तो हम कुछ समझ नहीं पाये कि यह क्या हो रहा है। उन दांतों पर नजर पड़ी तो यकायक रामजी दास के चेहरे की तरफ देखा क्योंकि अगर अकस्मात किसी के साथ कुछ हो सकता था, तो उन्हीं के साथ। अब तक उनके अधिकांश दांत गिर चुके थे। अब भी उनका एकाव दांत टप्प से गिर जाता था। सारे ग्रुप की आंखें फटी की फटी रह गयीं। न कोई शब्द, न कोई हरकत। मेरी परेशानी यह है कि जब तक कोई दूसरा ऐसी आकस्मिकता से जूझने को पहले तैयार नहीं होता, तब तक मैं भी अपने को तैयार नही कर पाता। मुझे कुछ सूझता ही नहीं। मैंने फिर रामजी दास के चेहरे की ओर देखा, उनके मुंह से खून वह रहा था। अब भी ग्रुप निश्चल बैठा था। आखिर मुझे पहल करनी ही पड़ी। मैंने कहा—रामजी दास यह क्या हुआ? मगर वे कुछ बोल नही पाये। उन्होंने शायद सुना ही नहीं। रात के कोई नौ बज रहे थे। ठंड के दिन थे। कैफे में हमारे सिवाय कोई नहीं था। शायद कुछ लोग अंदर हों। वेयरे अंदर ही थे। उन्हें पता था कि हम एक बार चाय पीने के बाद दूसरी बार कुछ लेते नहीं।

दूर तक अंधेरा और सन्नाटा था। मुझे लग रहा था कि जैसे सारे ग्रुप के प्राण पखेरू उड़ गये हैं। अब ग्रुप दोबारा जिंदा नही हो सकेगा। और इन सारी आकस्मिक मौतों का दोषी मैं हूं क्योंकि मैं जिंदा हूं। मैं चीखा—सारे ग्रुप को यह क्या हो गया है? रामजी दास मरा जा रहा है मगर लगता है कमीनो, तुम उसके पहले ही मर चुके हो। लेकिन सन्नाटा टूटा नहीं।

रामजी दास के मुंह से खून लगातार गिरता जा रहा था। मैं उनके बिल्कुल पास बैठा था इसलिए मेरी सफेद शर्ट पर भी कुछ बूंदें गिर गयीं। पहले मैंने सोचा इन्हें धो लूं वरना फिर दाग नहीं निकलेगें। मगर मुझे तुरंत याद आया कि यह इतना जरूरी काम नहीं।

मैं उठा और अपना एक हाथ उनकी दोनों बगलो में और दूसरा उनकी

टांगों के जोड़ों में डाला और उन्हें वहां से उठाने की कोशिश की। मगर वे मुझे पत्थर की तरह भारी और कड़े लगे। वे शरीर से भारी हैं। एक बार मैंने खुशी से पागल होकर उन्हें उठाने की कोशिश की थी। और चूंकि वे भी चाहते थे कि मैं उन्हें इस मौके पर उठा कर खुश हो जाऊं इसलिए उन्होंने अपने शरीर को ढीला छोड़ दिया था। मगर मुश्किल से ही मैं उन्हें एक मिनट उठा पाया था कि वे धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े थे। मगर वे दर्द से कराहे बिना ऐसे उठे थे जैसे गलती से फिसल गये हों और अब लजा रहे हों। मैं उनकी इस महानता से प्रभावित था और उनसे छेड़खानी के बावजूद सारा ग्रुप कहीं उनका सम्मान भी करता था। ग्रुप के सभी साफ धुले महंगे कपड़े पहनने वालों को रामजी दास के फटे पुराने मैले कपड़ों से कोई शिकायत नहीं थी और न ही वे कभी ऐसी दया उपजाते थे कि अपने कपड़े उन्हें पहनने देने का प्रस्ताव मुंह से निकले।

इस कदर पत्थर शरीर उनका पहले नहीं था, यह मुझे याद है। मुझे लगा कि इतने सीधे-सादे साफदिल-दिमाग वाले आदमी का शरीर पत्थर जैसा *कैसे हो सकता है? मगर इतना सब सोचने का वक्त नहीं था। सारा ग्रुप अभी* भी मुर्दा था। मैंने ग्रुप के एक-एक आदमी को बहन की गाली दी। संयोग से उनमें से एक भी 'सगी' बहन नहीं थी। फिर मैंने मां की गाली देकर ग्रुप को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया लेकिन ग्रुप किसी कीमत पर 'बहकने' को तैयार नहीं था।

मैं तेजी से अंदर कैफे में भागा। वहां भी कोई टंटा खड़ा हो गया था। दो ग्राहक बेयरों से लड़ रहे थे। उनके मुंह में उबली हुई गालियां थीं। मैंने अपनी बात कहने की कोशिश की किंतु किसी का ध्यान मेरी ओर नहीं बंटा तब तक एक बेयरा, गालियां सुन कर उत्तेजित हो गया था। मेरी घबराहट बढ़ती जा रही थी। मैंने एक बार फिर कुछ कहने की कोशिश की मगर व्यर्थ। मैंने अबकी बार कहा 'तुम सबों की मां की.........' और बाहर लपका।

मैं चौंका। ग्रुप भाग गया था। रामजी दास का चेहरा टेबिल के कांच पर गिरा पड़ा था—खून और दांत के टुकड़ों के बीच।

मुझे कुछ नहीं सूझा। मैं और घबरा गया। मैंने उनका पेट दबाया—हंसेंगे यह सोचकर। उनका हंसना ही सारी स्थिति का जवाब हो सकता थ

●

□ नरेन्द्र बाजवा

टिक्के की वापसी

सरदार की पहली आवाज पर ही टिक्का उठ खड़ा हुआ। रात भर वह करवटें बदलता रहा था। पूरे शरीर में अजीब सी कुलबुलाहट थी। उठने की इच्छा नहीं हो रही थी पर सरदार की आदत से वह भली भांति परिचित था। वर्षा हो या आंधी, ठंड हो या गर्मी, तबियत ठीक हो या नहीं, सरदार किसी को यूं ही लेटे नहीं देख सकता।

हल्की काली रात का अंधेरा कम होने लगा था। थोड़ी ही देर में प्रभात होने को थी। रोज यह खामोशी सरदार की आवाज से ही टूटती है और इसी आवाज से दिन शुरू होता है। मुंह अंधेरे से शुरू हो रात के आखिरी कुछ घंटों तक हलचल रहती है और फिर वातावरण शांत हो जाता है। यह शांति अगली अलसुबह तक रहती है।

रोजाना की तरह आज भी सरदार अपनी दबंग आवाज में सभी नौकरों के नाम ले-लेकर उन्हें उठने के लिए कह रहा था। चार कनाली डेरी में काम करते सभी नौकर अपनी अपनी जगह लेटे हुए थे। जीते और भजने की खाट सड़क किनारे थी। मिट्ठू, टिक्का और बहादुर आंगन में थे। टिक्के के साथ साथ मिट्ठू और बहादुर भी उठ खड़े हुए पर भजना और जीता मन मारे लेटे रहे। कुछ देर बाद सरदार ने उन्हें झिंझोड़ा। दोनों उठकर खाट पर बैठ गए। सरदार दोबारा अंदर चला गया। थोड़ी ही देर बाद सरदार की कसैली आवाज सुनाई दी—ओए, उठो भी। अब तो गाहक भी आने लगे।

—आये सरदार जी। कह, जीता भजने की ओर मुखातिब हुआ—साले गाहक रात को सोते भी हैं या नहीं—दिन निकलता नहीं कि हरामी खाट खड़ी कर देते हैं।

भजना आंखें बंद किए बैठा रहा। हाथों की उंगलियां चटखाते हुए उबासी

पशु घास चरता हुआ फार्म की हरियाली की ओर बढ़ने लगता तो टिक्का दूर से ही......च......च.......करता उसे रोकने लगता । पर पशु ही तो है, हरियाली की तरफ जाएगा ही । टिक्के को बार-बार उठना पड़ा । वह पशुओं को हांक लाईन के इस तरफ ला फिर पेड़ के नीचे आ बैठता । पसीने से तरबतर उसकी कमीज पीठ से चिपक गयी थी और उसमें से अजीब बू आ रही थी, गोबर जैसी । सोचा यह भी क्या जिंदगी है, रात दिन गोबर में सने रहो । रात सोते समय भी यूं लगता है जैसे ढेर पर सोया हो या कूड़े का एक हिस्सा हो । जब भी वह अपने साथियों के साथ बैठता है, वे मज़ाक करते हैं—दूर बैठ ओ गंदू । खासकर जब उसके साथ गोबर उठाने वाला मिंदू भी यही कहता है तो उसे स्वयं पर और भी कोफ्त होती है ।

छाया में लेटे-लेटे टिक्के की आंख लग गयी । डेढ़ बजे की गाड़ी गुजरने के बाद ही पशुओं को डेरी की तरफ हांकना था । सोते में उसे लगा कि काले इंजन वाली तेज रफ्तार गाड़ी किसी दैत्य सी दहाड़ती लाईनों पर से गुजर रही है । अचानक देखता है—भैंस, लाईनों में 'बां-बां' करती, जी जान से फलांगती भाग रही है लेकिन गाड़ी और उसके बीच का फासला निरंतर कम हो रहा है और भैंस की आवाज गाड़ी की चीखों में दब रही है । कानों में गाड़ी की खटाक-खटाक ही सुनाई पड़ रही है । वह हड़बड़ाकर उठा । पसीने से तर कमीज कंधे पर से चिर गयी । कुछ देर वह कमीज को देखता रहा । इधर-उधर नज़र दौड़ाई । गाड़ी कहीं नहीं थी पर कान अभी भी सां-सां कर रहे थे । पशु धीरे-धीरे घास को मुंह मार रहे थे । उसने उंगलियों से कमीज के फटे हिस्से को नापा । चार अंगुल कमीज फट गयी थी । उसका मन खट्टा हो गया । और कोई कमीज भी तो नहीं जो वह पहन ले, उसने सोचा । एक कमीज और एक पाजामा जब तक पूरी तरह नहीं फटते, और सिलवाने की हिम्मत ही नहीं होती । तनख्वाह भी कौन सी इतनी है कि रोज़ कपड़े ही सिलवाता रहे । सरदार तो एक रुपया देकर भी खाते में चढ़ा लेता है, खुद भले ही रोज बीस-पचास की शराब पी छोड़े ।

बेहद गर्मी थी । कोई-कोई राही ही गांव शहर से आ जा रहा था । पेड़ की छाया भी घनी नहीं । बुज़ुर्ग कहते हैं—ऐसी धूप में तो भूत-प्रेत भी छांह ढूंढते फिरते हैं । टिक्के को प्यास महसूस हुई पर दूर-दूर तक पानी नहीं था । उधर मिलटरी फार्म में पंप से पानी गिर रहा था । उसने दौड़कर

वहां पानी पी आने की सोची। यदि कोई पशु फार्म की हरियाली की ओर चला गया तो......इस ख्याल से वह सहम गया पर प्यास और बढ़ गयी। घर होता तो सरदारनी से लस्सी-पानी पी लेता किंतु यहां......। कोई चरवाहा भी तो नहीं दिखाई दे रहा जिसके हवाले पशु छोड़ झट से पानी पी आए। पानी पीना तो दूर रहा जो थोड़ा बहुत शरीर में था वह भी पसीने के रूप में बाहर आ रहा था।

पसीने से तर-ब-तर एक साईकल सवार उसके पास से गुजरा तो उसने पूछा......छोटे के बजे हैं।

—क्यों ? गाड़ी तले सिर देना है क्या ? कह वह आदमी, पैडल मारता लाईनों के पार बनी पगडंडी के आसपास बिखरी झाड़ियों में खो गया। टिक्का उसकी पीठ देखता रहा......साला......वह बुड़बुड़ाया......हरामी। जिसे बुलाओ वही काटने को दौड़ता है......भला कोई पूछे कि मैंने कौन सी उसे गोली मार दी......टेम ही तो पूछा है......मेरे पास घड़ी होती तो क्यों पूछना उस लफंडर से......पर घड़ी मेरे पास होती कैसे ? वह हंस पड़ा...... यह तो किस्मत वालों के पास होती है। अपनी पूंजी तो है एक कमीज और एक पाजामा। उसका ध्यान फिर कमीज पर चला गया और उंगली अपने आप फटी कमीज के सुराख में जा घुमी। उसे फिक्र हुआ। सरदार ने तो पहले ही दो सौ के ऊपर पैंतीस कर दिये हैं और अपनी तनख्वाह है, एक सौ पच्चीस। हो न हो वह सरदार की मिन्नत-खुशामद कर इस बार एक जोड़ी कपड़े तो ज़रूर ही बनवा लेगा।

उसकी आत्मा सरदार पर केंद्रित हो गयी। सरदार ने अच्छे करम किये हैं। घर मे फ्रिज, स्कूटर, टैलीविजन, सोफा आदि सब सुविधाए मौजूद है। जब टिक्का डेरी में नया-नया आया था तो कुल बीस भैंसे थी पर अब तो साठ से कम क्या होंगी ? और सरदार अब कौन सा खुद काम करता है। बैठा हुक्म चलाता है या फिर दारू पी छोड़ता है।

गाड़ी की चीख सुनी तो उसका ध्यान फिर लाईनों पर जा पहुंचा। दूर जहां दोनों लाइनें एक होती लग रही थी, एक काला सा धब्बा उसे अपनी ओर बढ़ते हुए बड़ा होता दिखाई दे रहा था। धुंआ आसमान में फैल रहा था। उसने दूसरी तरफ दृष्टि दौड़ाई कहीं कोई पशु गाड़ी की लाईन पर ही न हो, पर सब ठीक था। छक-छक करती गाड़ी पास से गुजरी तो उसने हसरत

भरी निगाहों से गाड़ी में बैठे मुसाफिरों को देखा। उसका मन हुआ वह भी उनकी तरह कभी गाड़ी में सफर करे.......बहुत दूर तक.......कई दिन....... लगातार।

गाड़ी गुजर गयी तो उसने पशुओं को डेरी की तरफ मोड़ा। डेरी पहुंचा तो पाया मिट्ठू अभी झाड़ू दे रहा था। वह थोड़ा सा खुश हुआ। जब टिक्का उसके साथ लगता तो दो घंटों में ही सब निबट जाता था। पर अब......पता पड़ेगा बच्चू को...... मुझे तो 'गद्दू' कहता था। पशु खुरलियों की ओर हो लिए तो उनके पीछे चल रहा टिक्का, मिट्ठू के पास से गुजरता हुआ बोला———क्यों मिट्ठू कैसा है गंदू ? और हंस दिया। मिट्ठू कुछ न बोला और कूड़े से भरा टोकरा ढेर पर फेंकने चल दिया।

आंगन में भजना हाथ बांधे बैठा था। मालूम हुआ चारा कुतरती मशीन मे उसका हाथ आ गया था और अंगूठा कट गया। उसे लगा जैसे उसका ही अंगूठा कटा हो। भजने का दुख उसे अपना दुख लगा। वह कितना भी किसी से लड़े-झगड़े पर दूसरे का दुख उससे बर्दाश्त नहीं होता।

पशुओं को खुरलियों से बांध, सभी इकट्ठे दोपहर का खाना खा रहे थे तो भजने को बायें हाथ से बमुश्किल रोटी खाता देख टिक्का बोला—बुरा हुआ भजने......सरदार तो यूं ही बैठने नहीं देता।

कोई नहीं टिक्के......जब तक जाट पूरे का पूरा न कट जाए सांप सा फुफकराता रहता है। वैसे दुहने में थोड़ी दिक्कत होगी। भजने ने कौर मुंह में डालते हुए कहा।

—सरदार को कह, दो चार दिन आराम कर ले.......और फिर तुम्हारा कसूर भी क्या है ?

—कसूर......कसूर कौन पूछता है। तनखाह के वक्त तो काम के दिनों की ही बात होगी। बाकी दिनों के पैसे तो कट ही जाते हैं।

—यार कोई लूट है। पैसे काट लेते हैं........किसकी इच्छा करती है अपना अंग कटवाने की......जीता पानी के घूंट से कौर को गले नीचे उतारता हुआ बोला। टिक्के ने सिर हिलाकर हामी भरी।

—घरवाली मरी का तो तुम्हें पता है ही। जितने दिन गांव में काटे, उन दिनों का सरदार ने एक पैसा नही दिया......भजने ने बुझे मन से कहा।

मुझ से पहले की बात होगी....... मैं तुम्हारी जगह होता तभी सरदार

से कहता हिसाव-किताव कर......। जीता गुस्से से भर गया। वह कुछ और भी वोलता पर सरदार के स्कूटर की आवाज सुन सभी चुप हो गए।

—तू भी टिक्के ढीला-ढाला दिखाई दे रहा है। जीते ने वात पलटी।

—मालूम नहीं कौन सा बुखार चढ़ना है। सुबह से शरीर टूट रहा है। टिक्के को जैसे अपनी याद आ गयी हो वोला———मैं तो सरदार को कहने लगा था कि पल दो पल अराम कर लेने दे। फिर सोचा कौन करने देगा हमें अराम ?

—वेवकूफा, जिंदगी से बढ़कर क्या अच्छा है......सारा दिन हड्डियां तुड़वाओ किसलिए......खुद ही किसी काम के न रहे तो क्या करोगे ?

टिक्का चुप रहा। जीते की वात उसे ठीक लगी। लेकिन सरदार का ख्याल आते ही उसे घबराहट महसूस होने लगी।

रोटी खाने के बाद सभी अपने अपने ठिकानों पर जा पहुंचे। जूठे वर्तन उसने खाट के नीचे रख दिए और लेट गया। नींद से उसकी पलकें वोझिल हो गयीं।

शाम को सरदार ने दूध दुहने के लिए टिक्के को उठाया तो उसका पूरा शरीर भट्ठी-सा तप रहा था। अब आराम कर लेता तो सुबह तक उठ जाता, पर सरदार ने एक न मानी और उसे काम पर लगा दिया। भजने का जख्म ताजा होने से सरदार ने उसे आराम करने के लिए छोड़ दिया। दूध दुहते हुए सरदार घुटा-घुटा रहा चूंकि उसे खुद दूध दुहना पड़ा था। ग्राहकों से भी वह कुछ कुछ खिचा रहा। जैसे-तैसे टिक्के ने काम खत्म किया और फिर भजने के पास खाट पर आ वैठा। पूरे शरीर मे जैसे जान ही न हो। जी मितलाने लगा। कई वार मुंह नीचे कर कै करने को होना पर पेट में से कुछ न निकलता।

—उठ ओ टिक्के, जा दवाई ले आ.......सुवह तक ठीक हो जाएगा। भजने ने टिक्के की विगड़ती हालत देखते हुए कहा।

तवियत ठीक हो जायेगी। वुखार है। अपना असर तो दिखायेगा ही। टिक्के ने कुछ सोचते हुए कहा—— डाक्टर तो सूई लगा कर पूरे दस झाड लेगा......हम तो पहले ही कर्जों में डूबे हुए हैं, वुरी तरह। ठीक कहता है वेचारा, भजने ने दिल में सोचा।

कुछ ही दिनों में टिक्के की हालत खस्ता हो गई। शरीर सूख कर कांटा हो गया। रोशनी से उसे डर सा लगने लगा। कमरे में अंधेरा किये, लेटा रहना। बल्व जलता देखता तो मन घवराने लगता। कभी कभी पीड़ जान लेवा दर्द से चर्रा उठती। शरीर सूखता जा रहा था और खर्च वढ़ता जाता।

सरदार को खर्चे की फिक्र हुई तो उसने टिक्के को अस्पताल में भर्ती करवा दिया। इस तरह से बीमारी भी निकल गयी और खर्च भी घट गया। नाम मात्र के लिए थोड़ा खर्चा दो-चार दिनों में सरदार टिक्के को दे देता।

टिक्के को अस्पताल के एक अंधेरे कमरे में रखा गया। उस कमरे में उस जैसा ही एक मरीज था। उसके पास सुबह शाम कोई न कोई हितैषी मिलने आ जाता। पर टिक्के के पास किसने बैठना था? डेरी में रहते जब कोई नौकर उसके पास आ बैठता तो सरदार किसी न किसी बहाने उसे वहां से उठा देता या किसी काम में लगा देता। कभी कभी तो सरदार घूरते हुए कह भी देता——इस बीमारी के पास न बैठे रहा करो, ऐसा न हो कि तुम में से भी कोई खाट पकड़ ले।

हर समय की नोक-झोंक से तंग आकर ही टिक्के ने सरदार से उसे अस्पताल में भर्ती करवा देने को कहा था। समय निकाल कोई न कोई नौकर उसकी रोज खबर ले जाता। टिक्का सोचता यदि कोई पूरी हमदर्दी से उसकी सेवा करे तो शायद वह जल्दी ठीक हो जाए। बीमारी भी कौन सी छोटी मोटी थी। टैटनस थी टैटनैस। लेकिन सरदार डेरी में से किसी को न आने देता। कभी कभार सभी नौकर इकट्ठे हो रात को पल दो पल के लिए उसके पास आ बैठते। सरदार भी चक्कर लगा जाता नाम मात्र के लिए।

ज्यादा देर न लगी। एक दिन टिक्के की पीठ में ऐसा दर्द उठा कि बस .. ...सिर और पांव खाट से लगे रह गए और पीठ अकड़ कर ऊपर को उठ गई जो फिर सीधी न हुई। सरदार तब टिक्के के पास ही था। टिक्के के दम निकल जाने से मानो सरदार का अपना भी दम निकल गया हो। वह मुंह में कुछ बुड़बुड़ाया और घर आ पहुंचा।

—सरदार जी, टिक्का कैसा है? सरदार को देखते ही जोते ने पूछा।

कुछ देर चुप रहने के बाद सरदार बोला——ले डूबा मुझे और खुद जा पहुंचा जन्नत मे।

यह सुनते ही सारे नौकर दूध की धारें बीच में ही छोड़ सरदार के पास आ खड़े हुए। अजीब चुप्पी छा गई। उनके दिल मानो जकड़े गए हों। एक-एक बूंद खून निचुड़ गया हो। वह गंदू सा टिक्का अब गंदू न रहकर उनका बुझ चुका जिस्म हो गया था। एक दो ग्राहक भी खड़े थे। जिनकी पूरी हमदर्दी उनके साथ थी। काम रुका देख सरदार ने नौकरों को घूरा पर

उनके हाथ जैसे कट चुके थे। पांच उंगलियों में से एक उंगल गायब हो गई थी। भरे मन से उन्होंने फिर काम शुरू कर दिया।

धार निकालते समय जीते के हाथ कांप रहे थे। कई धारें बाल्टी की बजाए जमीन पर गिर रही थीं। टिक्के का लंबूतरा सा चेहरा बार बार आंखों के सामने घूम रहा था। अचानक किसी ख्याल ने उसे आ घेरा, वह बोला—जल्दी कर लो भई, अस्पताल जाना है। वह फुर्ती से हाथ चलाने लगा।

—अस्पताल क्या करोगे जाकर? सरदार ग्राहकों को दूध देता हुआ बोला।

—और तो कुछ नहीं कर सके दार जी, टिक्के के साथ शमशान तक तो हो आयें।

—कोई जरुरत नहीं.........मैं कह आया हूं कमेटी वालों को......... खुद ही जला देगें, सरदार ने खीझ भरा उत्तर दिया।

जीते ने काम बीच में ही छोड़ दिया। पता नहीं क्या हुआ, उसका पूरा शरीर कांपने लगा——सरदार जी, टिक्का कोई कुत्ता था, जिसे जलाने के लिए कमेटी वालों को कह आए हो।

—जुबान न लड़ा जीते..........समझा, सरदार ने जीते को आंखे तरेरते हुए कहा——तेरा मतलब है मैं मुर्दे उठाए फिरूं कंधों पे.........और फिर उस आदमी को जिसने पूरे पन्द्रह सौ रुपये कुएं में फेंक दिए।

—काम भी तो दार जी आपका ही करता था.........कौन सवा सौ में सारा दिन मल-मूत्र में घुसा रहता है। भजना बोल उठा।

—तुम्हरा मतलब है अपना काम छोड़ नौकरों की सेवा टहल में ही खो जाऊं?

—मतलब तो इतना है दार जी, कि नौकरो को भी आदमी समझो... जानवर नहीं।

—जानवर तो तुम हो ही..........मेरे समझने न समझने से क्या फर्क पड़ता है। सरदार ने रूखे स्वर में कहा—सुसरे मालूम नहीं कौन सी हवाओं में उड़ते हैं।

यह बात सुननी थी कि झगड़ा खड़ा हो गया। सरदार भजना और जीता

वहस रहे थे। पास खड़े ग्राहकों ने वात रफा दफा करनी चाही।

—ठीक कहा आपने दार जी। अचानक अब तक चुप खड़ा मिंदू जो सरदार को लगातार घूर रहा था, ऊंची आवाज में वोला——अच्छा किया जो हमें हमारी औकात वता दी। हम तो और ही चक्कर में थे.........आंखें तो आज खुलीं।

सरदार चुप्प हो गया। माहौल विगड़ता देख उसे लगा कि वह जल्दवाजी कर रहा है।

—चल ओए जीते तैयारी कर, मिंदू कह रहा था———भजने, वहादुर चलो सभी।

—मैं तुम्हें फिर कह रहा हूं। चुप करके काम करो ज्यादा चीं-चीं न करो.........यदि नहीं तो रखो मेरे पैसे इधर और अपना रास्ता नापो....... पक्की छुट्टी करो। सरदार ने दांव फैंका। प्रत्येक सरदार का देनदार था। समय-समय पर सभी ने पैसे लिए हुए थे।

—छुट्टी तो दार जी यूं नहीं करेंगे। मिंदू जाता जाता रुक गया—— और हिसाव किताब भी पूरा करेंगे, चिंता न करो.........काम करते हैं तो पैसे लेते हैं, हमारा हक है वह। पर पैसे को देखने वाली तुम्हारी और हमारी नजर में अंतर है.........ये न भूलो कि टिक्का भी हममें से एक था।

—तू चुप होता है कि नहीं। सरदार के लिए पानी सिर से गुजर गया था। गुस्से से उसकी मूंछें भी फरकने लगी थीं।

—दार जी हम तो चुप्प ही थे। हां, टिक्के ने अब यह चुप्पी तोड़ दी है।

चारो नौकर बाहर को चल दिए। वौखलाया सरदार उन्हें जाते देखता रहा। उनके आठ कधे दिखाई दे रहे थे। उसे लगा कि चारों टिक्के की लाश को कभी इस कंधे से सहारा दे रहे थे तो कभी उस कंधे से। अचानक सरदार को लगा कि तख्ते पर सफेद चादर में लिपटा टिक्का उठकर बैठ गया है।

(पंजावी मूल का रूपांतर:- न० नि०)

□ नमिता सिंह

नतीजा

बस से उतर कर लगभग दो फर्लांग का रास्ता था। इंटरव्यू इसी आलीशान इमारत के भीतर आफिस में होना था। कल शाम इधर से गुजरते हुए उसने देखा था कि बिल्डिंग की चोटी पर "सीको" के अंग्रेजी में बड़े-बड़े अक्षर नियान लाइट में जगमगा रहे थे।

बड़ा सा फाटक, उसके पास की दीवार पर अंग्रेजी में "इन" खुदा हुआ था। कुछेक लोग बाहर भीतर आ जा रहे थे। अंदर घुसने पर चौड़ी सड़क आगे जाकर दो हिस्सों में हो गई थी। एक लंबा सीधा रास्ता जो मुख्य बिल्डिंग के पीछे के हिस्से को तथा दूसरा गोल घूमता हुआ दूसरे सिरे पर। घूमे हुऐ रास्ते के बीच में फैला हरा मखमली लान जो चारों ओर रंग बिरंगे फूलों की दो-तीन कतारों से घिरा हुआ था। अंदर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कुछ हिस्से गुलाबों से भरे थे। पोर्टिको के अन्दर तथा बाहर गाड़ियां खड़ी थीं।

इस भव्यता को देख कर मन ही मन कुछ सकुचा सा गया वह। भीतर जाने के लिये बड़ा सा शीशे का दरवाजा जो एक बड़े हाल में खुल रहा था, खामोशी के साथ खुल गया। अंदर घुसने पर पहला कदम रख कर ज्यों ही दूसरा कदम आगे बढ़ाया कि अचानक वह लड़खड़ा गया, लेकिन फौरन ही संभल गया। फर्श काली-सफेद बुंदियों वाले मुज़ैक सा-बेहद साफ और चमकीला। चिकना तो इतना ज्यादा कि जरा सी बेख्याली में आदमी चारों खाने चित्त हो जाए। सावधानी से जमा-जमा कर पैर रखता हुआ वह उस ओर गया जहां सोफे पर दो नौजवान लड़के बैठे थे। एक दूसरे की उपस्थिति से बेखबर।

—एक्सक्यूज मी, सीको के..............

उस नवयुवक ने बिना कुछ बोले बाई ओर कोरीडोर के पास बैठे

आदमी की ओर इशारा किया। वह अधेड़ सा आदमी सूट-बूट पहने, चश्मा लगाये कागजों की जांच पड़ताल कर रहा था। गिर न पड़ने की सावधानी की वजह से वह अब तक उस ओर देख ही नहीं पाया था। धीमे-धीमे पैर रखता वह उसके पास गया।

——गुड मार्निंग सर।

और अपना इंटरव्यू लेटर निकाल कर मेज पर रख दिया। उसने लेटर लेकर एक भरपूर नज़र उस पर डाली और सामने पड़े कागज पर कुछ लिख कर सर हिला दिया। वापिस वहीं, उन लड़कों के पास एक दूसरे सोफे पर वह भी बैठ गया।

अब तक वह काफी सहज हो गया था। इंटरव्यू लेटर देखने वालों के पीछे ही कोरीडोर के सिरे पर एक आफिसनुमा कमरा था, जिसमें अभी-अभी वह आदमी गया था। जिसके कमरे के बाहर तख्ती लगी थी।

आफिस सुपरिंटेंडेंट—सीको सिंथेटिक्स।

सफेद तख्ती पर काले चमकते अक्षर। हाल के बिल्कुल दूसरे सिरे पर, कोरीडोर के ही सामांतर ऊपर को सीढ़ियां थीं। इस बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान के मुख्य कार्यालय तथा अधिकारियों के कमरे ऊपर की मंजिलों पर ही थे।

उसने घड़ी पर नज़र डाली। सवा दस हो रहे थे। इस बीच तीन-चार और इंटरव्यू देने वाले आ गये थे। सभी नौजवान लड़के। उसने देखा लगभग सभी लोग थोड़ा बहुत लड़खड़ाते जरूर थे अंदर आते हुए। और फिर दुष्ट फर्श को घूरते हुए संभल-संभल कर चलते। इतने लोगों में सिर्फ एक ही नया आने वाला गिरा था हाथ-पैर फैला कर लेकिन उसे देख कर कोई हंसा नहीं। सब इधर-उधर नजरें घुमाते निर्विकार थे। वैसे वहां रोज काम करने वाले, आने-जाने वाले लोग खूब अभ्यस्त थे। एक जमादार उसी समय आकर एक बार फिर फर्श पोंछ गया था।

एक गाड़ी तभी बाहर आई। चुस्त, वर्दी में लैस ड्राईवर ने फौरन दरवाजा खोला और साहब ने अंदर प्रवेश किया। वह अधेड़ आफिस सुपरिंटेंडेंट भी खड़ा हो गया था।

—गुड मार्निग सर, कह उसने चश्मा संभालते हुए सिर झुकाया।

साहब ने संभवत: धीरे से सर हिलाया था जो किसी ने नहीं देखा और मंथर गति से बिना किसी ओर देखे कोरीडोर की ओर चले गये। सभी लोग

भी अधेड़ बाबू का अनुसरण करते हुए अनायास ही खड़े हो गये थे। जांच-पड़ताल बाबू अब चुस्ती के साथ बैठ गया था।

पांच-सात मिनट के अंतराल में एक के बाद एक, दो और साहब आये। एक बहुत गोरे रंग के, लाल धारीदारी शर्ट के साथ लाल टाई में अपनी खासी उम्र के बावजूद आकर्षक लग रहे थे। दूसरे वाले तो मुंह में सिगार दबाये तेज-तेज निकल गये।

—अभी कितनी देर है।

अभी बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के चेयरमेन साहब नहीं आये हैं——जांच पड़ताल बाबू ने बताया।

इस बीच एक नवयुवक और आ गया था। आकर्षक वेशभूषा——खासा स्मार्ट।

वह कुछ खलबली सी महसूस करने लगा। कही उसका सलैक्शन न हुआ तो? हालांकि लिखित परीक्षा में पहला नंबर है उसका। फिर भी कोई भरोसा नही इन लोगों का। उसे सिगरेट की तलब महसूस हो रही थी। कभी-कभार ऐसे ही मौकों पर वह एकाध पी लेता है। जेबें टटोली एक सिगरेट थी जेब में। यहां पीना ठीक है कि नही। नहीं। वह बुदबुदाया और हाल से बाहर निकल आया। वह सिगरेट सुलगा धीरे-धीरे टहलता हुआ गेट के बाहर आ गया।

पांच-दस मिनट चहलकदमी कर, वह फिर अंदर आ गया। तभी एक लंबी गाड़ी अंदर को जाती दिखाई दी। वह भी तेज-तेज कदमों से हाल की ओर चल दिया। एक भारी भरकम शरीर अंदर जा रहा था। पीछे से उसका गंजा सिर खूब चमक रहा था। वह अंदर जाकर फिर सोफे पर बैठ गया।

पास वाला लड़का अंदर की ओर इशारा करता हुआ बोला—यही चेयरमैन है।

वह चुप रहा। उसने अपना सिर सोफे पर टिका लिया। वक्त गुजर रहा था और अभी इंटरव्यू शुरू नही हुआ था; उसने घड़ी देखी। साढ़े ग्यारह बजने को थे। इस हिसाब से तो कहीं शाम न हो जाय खत्म होते-होते। लगभग दस-बारह लोग थे इंटरव्यू के लिए। शाम उसे हर हालत में हास्पीटल पहुंचना था। और बहुत से काम करने थे। वह उठ कर फिर चहलकदमी करने लगा।

—मिस्टर अरविंद कुमार—अधेड़ बाबू ने उनसे मुखातिब हो पुकारा।

—येस। वह स्मार्ट सा लड़का खड़ा हो गया।

—प्लीज गो अप-स्टेयर्स।

उसने आफिस सुपरिंटेंडेंट के पास आकर अपना नंबर देखा। उसका नंबर दसवां था। उसने अब इंटरव्यू के बारे में सोचना बंद कर दिया। सोच-सोच बिना बात दिल धड़कने लगता है। यह उसका पहला इंटरव्यू तो नहीं था, तीसरा था शायद, लेकिन इतनी बड़ी जगह पर वह पहली बार आया था। इससे पहले स्थानीय कालिजों में लेक्चररशिप के लिये गया था। यहां इस इंटरव्यू में हिंदी में तो क्या बात करेंगे ये साहब लोग। उसने सोचा दो एक वाक्य अंग्रेजी के वह सोच ले ताकि शुरूआत ठीक से हो जाय। शुरू में अगर कभी वह हड़बड़ा जाता है तो बस, पूरा मामला ही गड़बड़ हो जाता है। वैसे अब ज्यादा न सोचा जाए तो ठीक है। कोई ठिकाना नहीं कि कहां से पूछ लें——क्या पूछा लें।

अरविंद कुमार लगभग पंद्रह मिनट बाद वापिस आये।

—क्या-क्या पूछा आपसे उन लोगों ने।

—आल जनरल—लापरवाही के से अंदाज में अरविंद कुमार ने कंधे उचका दिये और सिगरेट सुलगाने में व्यस्त हो गया।

वह फिर अपनी जगह पर आकर बैठ गया। कुछ समझ नहीं आया तो कंधे से लटका अपना थैला गोद में रख लिया और उसमें से अपने सर्टिफिकेट निकाल कर उन्हें जांचने लगा। फिर अच्छी तरह एक-एक सहेज कर वापिस थैले के अंदर ही रख दिये। अचानक उसे लगा वह अपनी उंगलियां चटखा रहा है। वह झेंप सा गया और हाथ नीचे कर सीधा होकर बैठ गया।

ब्लड बैंक तो वह अब कल सवेरे ही जा पायेगा। रात चाचा के पास जाना भी जरूरी है। इन बड़ी जगहों में तो आने-जाने में ही इतना वक्त निकल जाता है। चाचा कुछ मदद कर दें तो अच्छा हो वर्ना फिर कम-से-कम सात आठ सौ का इंतजाम तो उसे कहीं न कहीं से तुरत ही करना पड़ेगा। पिछले दो सालों से मां-बेटा दोनों का काम उसी के स्कालरशिप से चल रहा है। क्या मुसीबत है। अब जब समय आ रहा था कि वह इस लायक बनता कि कुछ कर सकता मां के लिये तो वह बिस्तर से लग कर मरने को हो गयी है। उसे तो हर हालत में बचाना है। कुछ दिन तो मां सुख

और आराम मे जिये...... ।

— —मिस्टर मधुकर...... ।

———ओह———यस सर । वह किंचित हड़बड़ाता-सा उठ खड़ा हुआ और तेजी से ऊपर की ओर चल दिया । तभी चिकने फर्श का ख्याल आया और वह सावधानी से कदम रखने लगा ।

ऊपर दरवाजे पर बैठे चपरासी ने उसे देख कर दरवाजा खोल दिया । एक क्षण वह ठिठका आज्ञा लेने के से अंदाज में और फिर अपनी चाल को भरमक स्वाभाविक बनाता हुआ वह अंदर चला गया ।

ठंडा वातानुकूलित कमरा । सिहरन हुई । आठ जोड़ी आंखें उसकी ओर मुखातिब थीं । गंजे सिर वाले चैयरमैन साहब ने एक नज़र उस पर डाली और फिर पास रखे कागजों में व्यस्त हो गये । टाई वाले साहब ने उसे सामने कुर्सी पर बैठने का इशारा किया ।

—थेंक्यू सर ।

—हूं— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ—चेयरमैन साहब ने हुंकारी-सी भरी ।

— मिस्टर मधुकर———दूसरे साहब ने मुंह से सिगार निकाल लिया था ।

—यू टाप्ड द लिस्ट इन रिटिन टैस्ट ।

— येस सर वह उल्लासित हुआ ।

उन लोगों ने उससे प्रश्न पूछने शुरू किये । सिगार वाले तथा लाल टाई वाले शायद प्रतिष्ठान के तकनीकी विशेषज्ञ थे । वे ही लोग प्रश्न पूछ रहे थे । उन्होंने उसके ही विषय पर पूछना शुरू किया । अपना विषय । उसमें वह कहीं भी कम नहीं था ।

उसने दो साल पहले एम० एस० सी० किया । बी० एस० सी० तक कभी ट्यूशन, कभी छोटे-मोटे वजीफों के सहारे ही पढ़ता रहा । थोड़ा बहुत इधर-उधर के छोटे-मोटे काम करके, कभी कपड़ों की सिलाई, तो कभी जाड़ों में स्वेटर बुन कर उसकी मां भी कुछ न कुछ पैसे कमाती रही । पर पिछले तीन साल से लगातार मां की सेहत गिरती जा रही थी और अब तो पूरी तरह से उसने खाट पकड़ ली है । इन्हीं चक्करों में वह एम० एस० सी० में बहुत मुश्किलों से अपनी डिवीजन बचा पाया । कुछ लोगों की मेहरबानी से उसे रिसर्च में दाखिले के साथ-साथ एक स्कीम के तहत स्कालरशिप भी मिल गया । लेकिन इस वजीफे ने भी उसको मिट्टी कर दिया । सारा दिन लैब

मे गुजारने के बाद सवेरे शाम उनके घर पर हाजिरी दो और घर की, बाहर की सारी बेगार करो। कितनी बार सोचा कि एक आध ट्यूशन और पकड़ ले लेकिन फिर इस लायक नही रह जाता कि कुछ और कर सके। इसीलिये उसने सोचा कि जल्दी से जल्दी कोई नौकरी मिले तो झंझट कटे। सीको के एक्जीक्यूटिय आफीसर के लिये जब जगहें निकली तो उसने रात-दिन कर दिये और जुट कर इम्तहान दिया। नतीजन लिस्ट मे उसका पहला नाम था। करीब पाच सौ लोगो में पहला। जब इंटरव्यू मे भी उन लोगो ने उन्ही विषयो मे सवाल पूछने शुरू किये तो फिर वह पीछे कैसे रहता। उसका आत्मविश्वास जम रहा था और बहुत सहज रूप से उनके सामने बैठा जवाब दे रहा था। काफी देर बाद कुछ इधर-उधर सामान्य ज्ञान के सवाल तीसरे आदमी ने पूछे। इस दौरान चेयरमैन कुछ भी नही बोला। सिर्फ उसका गंजा सिर अक्सर हिल जाता था, मानों वह इस पूरी गुफतगू से सहमत हो।

लगभग आधे घटे बाद उसकी छुट्टी हुई। उसके बाद दो लोग और थे। वह वापस अपनी जगह पर आकर बैठ गया।

—दे टुक अ वैरी लाग टाइम विद यू। उदासीन सा लगने वाला लड़का उससे कह रहा था।

—ये ऽऽऽस। और वह अनायास कधे उंचका कर हस दिया था।

वह आखिरी लडका नीचे उतर कर आ चुका था। उसके पीछे कागज जांचने वाला बाबू भी।

—आल यू मे गो नाउ, प्लीज। मिस्टर मधुकर एण्ड मिस्टर अनुपम, प्लीज स्टे।

मिस्टर मधुकर——उसका दिल जोर-जोर से धडकने लगा। अनुपम वही पहला वाला लड़का था, स्मार्ट-सा। तब तो पक्की है यह नौकरी। उसका मन गहरी खुशी के साथ-साथ एक तेज उत्तेजना से भर गया। लिखित परीक्षा मे सबसे ज्यादा नंबर पाने पर भी उसे वास्तव मे पक्का विश्वास नही था कि इस बडे व्यापारिक प्रतिष्ठान मे वह नौकरी पा लेगा। बिना सिफारिश भला आजकल कहीं नौकरी मिलती है। श्रीराम डिग्री कालिज मे इटरव्यू के लिये गया था। मैनेजमेट की अपनी ही जाति का एक उम्मीदवार लगभग तय था जिसे वहां लेना था। उसको काटने के लिये ऐसी बात ढूंढ कर निकाली कि बस—मधुकर साहब, आपकी पर्सनिलिटी बहुत

अच्छी नहीं। आप तो कतई लेक्चरार जैसे नहीं लगेंगे। उन उल्लू के पट्ठों से पूछो कि चार सौ रुपयों में परिवार पले, उसी में उसकी मां का इलाज, दवादारु हो, और फिर वह पर्सनिलिटी भी बना ले। वह समझ गया कि उसे यहां नहीं लेना है। फिर वह क्यों रहे—सर, जिस दिन अपने वजीफे से नहीं, आप लोगों की तरह किसी बिजनेस से अपना परिवार पलेगा, उस दिन से पर्सनिलिटी भी बनने लगेगी—— और चिक उठा कर बाहर निकल आया था। लेकिन अब, इतनी बड़ी जगह। पूरे हिंदुस्तान में फैला है सीको का व्यापार। विदेशों में कितने ही एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट के केंद्र हैं। सिन्थेटिक धागा, कपड़ा मिलें, इंजिनियरिंग का सामान, घी, तेल, साबुन——क्या नहीं बनाते हैं ये लोग। लेकिन मान गये साहब। योग्यता भी कभी-कभी कोई चीज होती है। भला बताओ कितने मामूली घर का लड़का न आकर्षक पर्सनिलिटी और न कान्वेन्ट के लड़कों की तरह धड़ाधड़ लटकेदार अंग्रेजी। खैर, वह तो जगह और काम सब सिखा देता है।

इस व्यापारिक प्रतिष्ठान के प्रति उसे श्रद्धा सी होने लगी। पिछले दिनों दूसरे राज्य में इसी की एक शाखा के मजदूरों पर गोली चली थी। तब से उसे तो इंटरव्यू होने की भी उम्मीद नहीं रही थी। लेकिन बताओ इंटरव्यू भी हुआ और उस जैसे मामूली, बिना सिफारिश वाले को उन्होंने चुना। योग्यता ही तो देखी। इन बड़े प्राइवेट बिजनेस प्रतिष्ठानों में नौकरी की इच्छा आज ज्यदातर पढ़े-लिखे नौजवान लड़कों की होती है। इस पोस्ट में तो ज्यादा काम देखभाल, एडमिनिस्ट्रेशन का ही है। पी० एच० डी० करके ही क्या कर लेगा। एक से एक डाक्टरेटधारी मारे-मारे फिरते हैं। एक साल की ट्रेनिंग में छः सौ रुपया माहवार और फिर सीधे बारह सौ से शुरुआत। मन खुशी में डूबा न जाने कहां-कहां घूमने लगा।

—मिस्टर मधुकर। जांच पड़ताल वाला अधेड़ बाबू उसे फिर ऊपर जाने को कह रहा था, काफी आत्मीयता और इज्जत के साथ या पता नहीं उसे ही ऐसा लग रहा था। कभी-कभी किस तेजी से चारों ओर की चीजें बदल जाती हैं।

अब की वह प्रसन्नचित अंदर घुसा। सर झुका कर अभिवादन करना भी नहीं भूला। यह उसका भ्रम नहीं था। वे लोग सचमुच काफी आत्मीयता ओढ़े हुए थे। बात गंजे सिर वाले ने ही शुरू की।

—मिस्टर मधुकर, आई कांग्रचुलेट यू फार योर परफारमेंस।

—थैंक्यू सर।

वे उसे काम के बारे समझाने लगे। काफी कुछ तो सिर के ऊपर से ही निकल रहा था। कमबख्त खुशी के मारे दिमाग ठीक से काम ही नहीं कर रहा था। वे कड़े एडमिनिस्ट्रेशन बरतने के लिये और पूरी लगन और मेहनत से काम करने के लिये कह रहे थे। खैर, मेहनत से कौन घबराता है। उसने हमेशा ही बड़ी मेहनत की है। उसी की बदौलत यहां है। फिर उन लोगों ने मजदूरों और उनकी हड़तालों पर बात शुरु की।

—वैल, मिस्टर मधुकर, व्हाट्स योर ओपीनियन अबाउट लेबर अनरेस्ट।

—सर, इट सर्टेनली अफक्ट्स प्रोडक्शन एण्ड दस, वेरी हार्मफुल फार नेशनल प्रोग्रेस.........वह चार पांच वाक्य धड़ाधड़ लेबर अनरस्ट पर बोल गया मानो किसी कालिज डिबेट में बोल रहा हो। सभी ने उसके साथ सिर हिलाया। सिगार वाले साहब ने अपना सिगार निकाल कर अलग रख दिया था। वे अपना सिर उसकी ओर झुका कर उसे अब धीरे-धीरे समझा रहे थे।

—लेबर ट्रबल बहुत बढ़ रहा है। इन चीजों को टैक्टफुली डील करने में आसानी होती है। देखने में लगता है कि उनकी मांगें ठीक हैं पर उद्योग तो ऐसे नहीं चल सकते। उसे रोकने की कोशिश करनी पड़ेगी......... ठीक है करेगा सब। मेहनत करेगा, टैक्ट से काम लेगा.........लेबर प्राब्लम से भी निपटेगा.........सब करेगा.......... ।

—आल राइट, मिस्टर मधुकर। आप कल या परसों आइए और रिपोर्ट कीजिये इसी आफिस में। देयर विल बी ए मीटिंग आफ बोर्ड आफ डायरेक्टर्स आफ दिस ब्रांच फार टू डेज़। हम आपको वहां इन्ट्रड्यूस करना चाहेंगे। तभी आपका फाइनल सलेक्शन होगा। बेटर यू कम आन टुमारो।

—यस, टुमारो। ओ. के.। गजे ने की सहमति जताई और अपनी डायरी निकाल कर उसमें कुछ लिखने लगा।

—टुमारो यानी कल, स्प्रिंग सा कौंधा उसके दिमाग में।

उसने सोचा, कोई हर्ज नहीं है कहने में। बेचारे सब आत्मीय ही तो हैं। यह गंजा चैयरमैन तो सचमुच बहुत भला है। ...सर, फिक्स इट फार डे आफ्टर टुमारो। परसों हाजिर हो जाऊंगा, सर। तभी चेयरमैन के माथे पर बल पड़ते देख वह कुछ घबरा सा गया। कल, कल मेरी मां का आपरेशन है सर, वेरी

सीरियस आपरेशन । —, वहा ऽ ऽ ट गंजे चेयरमैन का चेहरा अब तक सचमुच फैल चुका था ।

—मां का आपरेशन है——सिगार वाले साहब ने सिगार मुंह में दबा कर किंचित हास्य के साथ दुहराया मानो मतलब समझा रहें हों। अन्य दो के चेहरों पर भी कुछ विस्मयता थी । नया लड़का, जिसको अभी अपांइटमेंट लेटर मिलना है । उसका इस तरह बात काटना शायद उनके गले नहीं उतरा ।

अगले कुछ क्षण गहरे सन्नाटे में डूबे रहे ।

गंजे चेयरमैन ने एक उड़ती सी नजर सब के चेहरों पर डाली । फिर अपने बगलवाले की ओर देखा । उन साहब ने धीरे से आंख मूंद कर मानो अपना निर्णय बता दिया था ।

गंजा चेयरमैन अब तनावरहित था । उसके होंठ धीरे-धीरे बेहद स्थिर और ठडे स्वर में खुले ।

—आय एम सारी मिस्टर मधुकर। योर अपाइंटमेंट इज कैंसिल्ड । अब आप आने की तकलीफ न करें ।

बगल वाले साहब शायद कुछ उत्तेजित लग रहे थे । वे तेजी से बोले—यू नो, माई मदर वाज आन डेथ बैंड वट डयू टू लेवर ट्रबल आई कुड नाट डेयर टू आस्क इवन फार टू आरज लीव । वी डोंट वांट सच इमोशनल आफीसर्स । आप कैसे पूरी-पूरी फैक्ट्री का, मिल का, इंतजाम चलायेंगे——इस तरह जज्बाती होकर ।

सिगार वाले साहब ने धीरे से सर हिलाया । औरों के चेहरों पर भी सहमति का भाव था । बगल वाले साहब ने तेज नजरों से देखते हुए कहा ।

—फिर सोच लीजिए । कल या फिर कभी नहीं ।

—"सर-सर" वह हकला गया । उसका दिल चाहा वह चीख-चीख कर कहे——मैं परसों, कल जब कहो आ सकता हूं, जैसे बुलाओ, जब बुलाओ आने को तैयार हूं.........लेकिन उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं फूटा । वह फटी-फटी नजरों से बेवकूफ बना उन लोगों को देखता रहा ।

—सर.......... । उसने एक बार फिर कोशिश की । वह कैसे समझाये उन्हें कि उस अकेली जान ने किस तरह उसे इतना बड़ा किया कि वह यहां बैठने लायक हुआ है । वह मरने को है—वह कल सारा दिन

यहां कैसे गुजारे..........

—नो मिस्टर मधुकर। गंजे ने अंतिम रूप से सिर हिला दिया।

—आपके नीचे एक-एक यूनिट में हजार-हजार आदमी काम करेगा। रोज उनकी हड़ताल, उनके धरने। फैक्ट्री में कभी किसी का हाथ टूटा तो किसी का पैर। कोई गिरा——कोई मरा——रोज नेता लोगों के धरने। आप तो लगता है खुद भी बैठ कर रोयेंगे उनके साथ। यू मे गो नाऊ प्लीज़।

और फौरन मेज के नीचे से घंटी बजा दी। बुर्राक वर्दी में लेस चपरासी अंदर आ गया था।

भन्नाता हुआ सिर लिए वह खड़ा हो गया। उसे समझ नहीं आ रहा था कि अचानक सब लोगों के चेहरे से वह आत्मीयता कहां गायब हो गयी। दरवाजे तक पहुंचते-पहुंचते उसके भीतर का मुर्दा सन्नाटा अब गुस्से की गर्मी से मानो पिघलने लगा था और उसके दिमाग की नसें लगातार तन रहीं थीं। जानवर कहीं के.........बुदबुदाते हुए जोर से उसने दरवाजा ठेला और एक बार पीछे मुड़ कर देखा। स्प्रिंगदार दरवाजा बंद हो चुका था। उसके मुंह का स्वाद न जाने कैसे कसैला हो गया था। उसे लगा कि कहीं उसे उल्टी न हो जाय। पिच्च से ढेर सारा थूका और तेज-तेज धड़धड़ाता हुआ नीचे उतर आया।

○

□ नरेन्द्र निर्मोही

कबड्डी

गांव में अचानक धमाका हुआ। ध्याना गांव का सरपंच चुन लिया गया। खानदानी लोगों के लिये यह धमाका नहीं तो क्या था कि एक कामगर इतने भारी बहुमत से जीत गया विशेषकर उस गांव में जहां के बच्चे गांव में आई कारों और स्कूटरों को हसरत भरी निगाहों से देखते रहे हैं। ऐसा नहीं कि उन्होंने कार स्कूटर नहीं देखे, कई बार उनका अंग-अंग छुआ है, मुंह से टीं-टीं भी की है परंतु फिर भी न जाने किस प्रेरणा से वे इनकी आवाज सुनते ही बरबस खिंचे चले आते हैं। कठपुतली की माफिक कोई एहसास उन्हें नचाये रखता है। यह एहसास उन्हें विरासत में मिला है। घर, खेत, खलिहान जहां कहीं वे होते हैं, बड़े-बूढ़ों के मुंह से अक्सर इन्हीं कारों स्कूटरों के बारे में सुना है। कल जो कार आई थी न, वह डिप्टी के बेटे की है, अपने विक्रम का पक्का यार। परसों जो स्कूटर आया था न वह थानेदार के बड़े लड़के राजकुंवर सिंह का है। मुख्तसर सी बात तो यह है कि कारों स्कूटरों की बातों को ले कर गांव खिल उठता है चूंकि दिन भर की गुड़ाई-निराई की मेहनत के बाद आराम के इन क्षणों में बतियाने के लिये उन्हें कोई न कोई मसाला मिल जाता है। गांव के एक-एक घर की खबर, किसके यहां जंवाई आया, किसकी बिटिया गौना लेकर गई, कौन शहर गया और कौन बहू लिवा कर लाया, वां-बरोले सी गांव की चौहद्दी में घूमती रहती है और जब तक कोई नई बात या खबर गांव तक नहीं पहुंचती, पुरानी बात ही चटनी की तरह चटखारे लेकर सुनाई जाती है। इस लिहाज से गांव काफी तरक्की कर गया है कि हर रोज यहां कुछ घटता बढ़ता रहता है. जिन दिनों खबरों का अकाल रहता है बड़े बुजुर्ग कबड्डी मैच की बात सोचते हैं और उस बैठक में यदि ध्याना हो तो कबड्डी मैच निश्चित है क्योंकि उसे मैच खेलने-खिलवाने का पागलपन की हद तक शौक है। उसे जीने का सहारा मिल जाता है। सोचों के घोड़े

दौड़ाने को मिलते हैं, एकरसता चटखने लगती। है उसे न तो वेटी के विवाह की चिंता, न वेटे को व्याहने का शौक, न बीवी की बक-वक, न वहन के घर आने की प्रतीक्षा और न भाई से मिलने की उमंग। उसका कोई नहीं है, उसे लेकर वह कई बार परेशान हुआ था, रोया सुबका और ऐसे ही भावुक क्षणों में उसने कितने ही धर्म भाई, बहनें, मांएं. वेटियां बनाई पर सभी सबंध मुश्क कपूर से हवा में उड़ते चले गये। इस टीस को भुलाने के ख्याल से वह कभी बांसुरी बजाना सीखता तो कभी ढोलक, कभी तबलची बनता तो कभी तानसेन। पर कुछ ही दिनों में उसे महसूस होता कि जीवन के प्रति उसकी उदासी और भी बढ़ गई है। बांसुरी की धुन दिमाग में खलबली मचाने लगती तो वह उसे पत्थर पर दे मारता और जब तक उसे चिंदी-चिंदी न कर देता चैन ही न पड़ता। तिनकों को हाथों में ले फूंके मार-मार हवा में उड़ा, बड़बड़ाता—साली हरामजादी जिंदगी........ कुछ देर बाद यह उन्माद उतरता तो कंकड़ उठा तालाब में फेंकने लगता। कंकड़ फेंकते-फेंकते थक जाता तो गुलेल उठा शिकार पर निकल पड़ता। शाम को टूटी खाट पर लेट, पांवों में से चुभे 'सूल' निकालते-निकलते खून बहने लगता तो वह मुस्कराता। गाँव में रहता भर ही था किसी तरह का कोई रिश्ता गाँव से नही रह गया था। कोई भी अपने बच्चों को उसके संग न रहने देता उन्हें अंदेशा रहता कि वह उनके बच्चों को भी अपनी तरह घुमक्कड़ बना देगा। हां गुड़ाई-निराई के दिनों में उसको खूब खोज-खबर ली जाती। गांव में उसे जैसा सस्ता कामगार कोई न था। रक्खु, रतना मुरतू, लंबड़ उसके ठिये के चक्कर काटते रहते। उसके बारे में मशहूर था कि ध्याने का तो एक ही उसूल है जहां देखी तवा-परात वहीं गायी सारी रात।

ये तो ठीक से नहीं मालूम कब किस दिन और कहां कबड्डी खेलने का शौक चर्राया। एक दिन उसकी टीम ने प्रांत की सभी टीमों को हरा कर ट्राफी जीत ली तो वह गांव भर में चर्चा का विषय बन गया। इसी दिन नूरे से उसका परिचय हुआ था जो धीरे-धीरे दोस्ती में बदल गया। वह नूरे के माध्यम से बहुत कुछ जान गया। सबसे पहली बात जो उसने जानी वह थी काम की पूरी मजदूरी लेना। नूरा जब उसे समझाता कि काम की पूरी मजदूरी न ले, वह अपने भाई बंद लोगों का ही बुरा करता है तो वह हैरान हो पूछता कि मजदूरी वह नहीं लेता तो नुकसान दूसरों का कैसे होता है? नूरे ने जब उसे समझाया कि उसके ऐसा करने से जमींदार उसका उदाहरण

दे और मजदूरों की मजदूरी भी कम कर देते है तो पहली बार उसे एहसास हुआ कि वह कहीं कुछ गलत करता रहा है।

अब वह प्रांत, जिला शहर के क्रिया कलापों का विस्तृत विवरण गांव वालों को सुनाने लगा था, आवाज में वला का सोज था। जो उसे सुनने लगता। पूरी सुने बिना न उठता। वह ऐसे-ऐसे मजेदार किस्से सुनाता कि सुनने वाले हैरान हो उठते। उन्हें यकीन न होता कि दर-ब-दर भटकने वाला ध्याना इतनी अक्ल का मालिक भी हो सकता है। बच्चों ने तो उसका नाम चलता फिरता रेडियो रख छोड़ा।

फार्म भरने की आखिरी तारीख तक, ध्याने का चुनाव लड़ने का इरादा नहीं था। उसके लिये यह सिरदर्दी से अधिक कुछ न था। कौन प्रत्येक के उलाहने सुने और उसे तो न काहू का लेना न काहू का देना। पर उसी दिन हुई घटना ने उसे झिझोड़ दिया था और वह फार्म भर आया था।

यूं तो बात कोई नयी नही थी। कमीन कितनी ही बार ठाकुरों, बाम्हनों के हाथो पिट चुके थे किंतु उस दिन विनोद महर ने फत्तू को, उसके जंवाई के सामने बुरी तरह पीट दिया जिसे उसका जवाई सहन न कर सका। उसने विनोद महर को गरेबां से पकड तडातड तीन चार घूंसे जड़ दिये। देखते देखते वह जगह दगल का अखाड़ा बन गई। किसने किसे पीटा, किसकी हड्डी चटखी, किसके नाक से खून बहा, किसकी नाक टूटी पता न लग सका। लाठियां-टकुए निकलते निकलते पुलिस पहुंच गई। तीन-चार जमीदारो और तेतीस कामगरो को हिरासत में ले लिया गया। विनोद महर को छोड़ बाकी दोनों जमीदार उसी शाम छूट आये थे। सापों से फुफकारते वे इधर-उधर घूमते रहे मानो शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला हो। उस समय चुनाव रूपी बेड़ियां थी वरना एकाध कत्ल तो हो ही जाता।

उसी शाम सराय में पंचायत जुडी। बहस मुबाहसो के बाद यह निर्णय लिया गया कि राजीनामा कर लिया जाऐ नही तो सारे गांव की बेइज्जती होगी अन्ततः राजीनामा हुआ।

ध्याना कामगरों के बीच बैठा फत्तू को सुन रहा था, 'ध्याने, तूं ही हमारी मां, बाप, भाई, बहन है। तेरा तो कोई है नही जिसकी मजबूरी तुम्हें जमींदारो के तलुए चाटने पे मजबूर करेगी। तूं सरपच बने तो हमारी जून सुधरे। करमू ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा, 'तूं तो संत आदमी है। कौन है

जो तुझ पर उंगली उठाए।' अभी कुछ देर पहले छुप कर सुनी हुई बात पेट में अपच की शिकायत बनी हुई थी। अपने आप फूट निकली-मैं अभी अभी महरों के पिछवाड़े सुन कर आया हूं, धर्म से। किशोरी इलैक्सन के बाद हमे बुरी तरह जलील करेगा। कह रहा था —विनोद महर, आखिर तुम समझने क्यों नही। इस समय झगड़े को बढाना अपने ही पांव काटना है। किसी तरह चुनाव तक इस अपमान को पिये रहो। उसके बाद तू जो कहे मैं न करूं तो किसी बाम्हणी का नही, चमारी का जाया समझना। लोभी राम पटवारी भी उनकी तरफ है, गलती में न रहना। यह सनसनीवेज खबर सुन वे और भी पास में खिसक आये।

किशोरी ने हर सभव तरीके से ध्याने को सरपंच का चुनाव न लड़ने की सलाहें दी। अपने कामगरों के माध्यम से धमकिया भी कि यदि वह नही माना तो हश्र बुरा होगा। पर वह नही ही माना। उसने किशोरी की तरह न तो जगराता ही करवाया और न कठपुतली का नाच ही। उसने एक बात ही कही कि तुम जानते हो मुझे किसी के लिये कुछ भी नही जोड़ना। तुमने खडा किया है तो तुम ही जानो। और वह भारी बहुमत से जीत गया। तीन टोलो के खानदानी पंच, जो आजतक कभी इकट्ठे मिलकर नही बैठ सके थे अब विनोद महर की हवेली पर इकट्ठे हुऐ हैं। आज उनकी नाक कट गई ह न, इसी लिये।

ध्याने के सरपंच बनने के बाद भी गांव का नक्शा पलटा तो भले ही नही, कुछ-कुछ बदला जरूर। अब जमींदारों का पहले सा दबदबा नही। उन्होंने दो तीन बार कामगरों को पीटा तो जरूर पर थाने जाकर ऐड़ियां भी रगड़नी पड़ी।

गांव तक पक्की सड़क की मांग को लेकर पिछले काफी दिनों से ध्याना, पंचू, मैनू आदि जिला, कचहरी, विधानसभा हाल के चक्कर काट रहे हैं। पक्की सड़क की मंजूरी मिल जाए तो उन्हें काम भी मिल जाएगा और गांव की भलाई भी।

इन दिनों विनोद महर के घर कारों स्कूटरों का काफी आना जाना है। कभी डिप्टी का लड़का आता है तो कभी मजिस्ट्रेट की लड़की। उन्हें हाथों में हाथ लिये चुहल-बाजियां करते हुए राह आती जाती गांव की लड़कियां और बहुएं टुकर-टुकर देख एक दूसरे को चिकोटियां काटती हैं—मोऐ बेहया है।

विनोद महर का लड़का विक्रम शहर के एक होस्टल में कई वर्षों से पढ़ रहा है एक-एक क्लास में दो-दो साल लगा कर और उसी की वजह से ये लोग इधर आते हैं।

विक्रम कभी-कभार पुआल में इकट्ठे हुए लोगों के सामने जाकर अपने बारे में ढेर सारी बातें बताता रहता है। वह हमेशा ध्यान रखता है कि सिर्फ वह ही बातें की जाएं जो उसको बेहतर और ध्याने को कुछ घटिया किस्म का आदमी सिद्ध कर सकें चूंकि कामगरों का ध्याने के प्रति जो समर्पण भाव है, उससे वह भलीभांति परिचित है। तभी तो ध्याने का विरोध भी नपी तुली बातों से करता है। वह निश्चित है कि गांव का कोई लड़का उसके साथ नही पढता जो उसकी लपट जिन्दगी के बारे में बता सके। वैसे ऐसा कौन सा काम उसने नहीं किया। जुआ, दारू, गांजा से ले राहजनी, डकैती, रंडीबाजी तक का चस्का उसने पाल रखा है।

पुआल पर बैठा रक्खू लुहार, ठंडा हो चुका लोहा आग में दाब बीड़ी फूंकने लगा है। उधर बतना खुरपा चंडने लगा। फ़सल को ले पुआल पर बैठे लोगों में बातचीत जारी है। किसने ने तो सौ भरीयां बांध ली और किसने ने दो सौ। विक्रम को पुआल की तरफ आते देख, [illegible] बुला अपना स्थान छोड़ दिया।

विक्रम की बातें लोग बड़े ध्यान से सुनते। आखिर शहर से आया है, उनकी तरह उजड्ड तो नही कि खाई-पकाई और सो लिये। विक्रम द्वारा सुनाये गये शहरी किस्से वे बड़ी तन्मयता से सुनते हैं। पास में भले ही बम फट जाये उन्हे कोई चिंता नहीं। उन्हें इत्र-फुलेल की खुशबू और चंपाबाई के गजरों का वर्णन रोमांचक लगता और ये भ्रम पाल लेना कि एक दिन शायद उन्हें भी ये सब नसीब हो, सुखद लगता। हर बार यहीं आकर बात नया मोड़ लेती है।

—काका है किसी को गांव की तरक्की का ख्याल। ध्यानु काके से कित्ती बेर कहा कि और नहीं तो कम से कम मिडिल स्कूल को हाई तो बनवा दे। पर उसके कान पर तो जूं तक नही रेंगती। विक्रम ने इधर-उधर देखा यह जानने के लिये कि कहीं परमेसरी तो आस-पास नहीं। वही तो कल उसे बता गया था कि अब कुछ ही दिनों में हाई स्कूल बनने वाला है। डी० सी० कल परसों तक मंजूरी दे देगा।

—पर महर जी कुछ भी कहो, ध्याना है बड़ा ईमानदार। करमू ने हाथ जोड़ते हुए कहा।

—रहे न भोले के भोले ही, ईमानदारी कोई शहद है जिसे चाटते फिरें। भई लीडरी में तो पल्ले से भी कुछ लगाना पड़ता है कभी-कभी। गांव की तरक्की यूं थोड़े हो जायेगी।

—सो तो ठीक है, महर जी। पर गांव सरपंच की बपौती थोड़े ही है, जिसका वही ध्यान रखे। गांव तो सांझा है। फत्तू ने सहज भाव से कहा।

फत्तू को गहरी नजरों से भांपते हुए विक्रम ने बात जारी रखी——काका यही तो मैं कहता हूं गांव सभी का है। गांव की भलाई सबकी भलाई। तुम तो जानते ही हो कि अपनी ऊपर तक पहुंच है। कल तहसीले गया था, डिप्टी साहब से मुलाकात हुई तो मैंने हाई स्कूल के बारे में कहा। बोले——ये तो हुआ ही समझो और बताओ।

—ये तो बड़ा पुन्न कमाया है, महर जी।

—अरे भई खानदानी आदमी खानदानी होता है। प्रेमू ने धौंकनी चलाते हुए कहा।

—इसमें क्या शक है? देसू ने टेक लगाई।

विक्रम ये बताना भी नहीं भूला कि उसकी पहुंच चपड़ासी से ले मुख्य-मन्त्री तक है। वह चाहे तो गांव तक पक्की सड़क भी बनवा दे।

ध्याना हाई स्कूल व पक्की सड़क के लिये पंचू, मैंनू पचमी आदि पंचों को साथ ले कभी एक अधिकारी से उलझा तो कभी दूसरे से। हाई स्कूल की मंजूरी आखिर उसने हासिल कर ही ली! उसने मंजूरी के कागज को बहुत गौर से देखते हुए, जेब में डाला। मन ही मन प्रसन्न हो कि अब वह विक्रम के नहोरो से मुक्त हो गया है, गांव वालो की संभावित खुशी की प्रतिक्रिया से रोमांचित हो, तेज-तेज कदमों से गांव की तरफ बढ़ने लगा। गांव में हाई स्कूल की मंजूरी का अपेक्षित गर्मजोशी से स्वागत न हुआ तो वह मन मसोस कर रह गया। सहसा ख्याल आया कि हो सकता है इन्हें खबर पर यकीं न हो। उसने कागज के पुर्जे को जमीन पर बिछाते हुए कहा——यह देखो, मंजूरी। तभी बतनू ने बताया कि यह खबर तो विक्रम महर ने तीन घंटे पहले ही दे दी थी, उसकी दौड़-धूप से ही तो मंजूरी मिली। पूरा गांव दो दलो में बंट गया। एक का विचार था कि हाई स्कूल विक्रम महर की वजह

से खुला है तो दूसरों का दावा था कि वह सब ध्याने, पंच, मैंनू जैसे लोगों की हिम्मत से हुआ है। जब दो दल बन जाएं तो यह निश्चित प्राय हो जाता है कि उनमें आपसी झगड़े हों। झगड़े हुए पर छोटे मोटे। पक्की सड़क की बात को ले दोनों दलों ने कोशिशें शुरू की। पर दोनों की कोशिशों में अंतर था। विक्रम के लोगो को करना- करवाना कुछ नहीं होता था क्योंकि विक्रम ने उन्हें बेफिक्र रहने के लिये कह दिया था। वह सभी कुछ खुद देख लेगा। जबकि ध्याना, मैंनू, पंचमी आदि अक्सर तहसील के चक्कर काट तपती दोपहर में लौटते और कभी कभी तो वहां किसी सराय में रात बिताते।

ध्याने के सरपच बनने से और भी कुछ गांवों में उत्साह की लहर दौड़ गयी जिसके फलस्वरूप जमींदारों का प्रभुत्व दूसरे गांवों में भी कम होने लगा। उन्हें यह चिंता सताने लगी कि यदि एक एक कर सभी गांवों की सरपंचियां कामगरों के हाथों में चली गई तो वे ठूंठ बन कर रह जायेंगे। छोटी-छोटी सी बात पर कामगर तिड़कने लगे हैं। यह उनसे सहन नहीं होता कि टके-टके के आदमी उनकी पगडियो के रंग पहचानें। ठाकुर राम रत्न जैसा घाघ जमींदार इस पूरे इलाके में नहीं। किसमें हिम्मत है जो ठाकुर राम रत्न को कहीं बात को नकारे लेकिन कल भरी महफिल में उनकी पगड़ी को उछाला ही नहीं बल्कि पांवों तले रौंदा गया। वे मारे अपमान के सुध बुध खो बैठे हैं और सारा रोष विनोद महर के यहां प्रकट कर आये——लाहनत है तुमपर और तुम्हारी जमींदारी पर। हाथों में चूड़ियां पहन लो। बिना इज्जत के पैसे को चाटना है क्या? तुम्हारे रहते ध्याने, पंचमीं जैसे टटपू जिये पंचायते कर हमें जलील करें। यदि अब भी नहीं चेते तो तुम लोग इन कमीनों द्वारा सड़कों पर घसीटे जाओगे। खैर इसी में है कि इस बार सरपंचीं कामगर के हाथ न जाने पाये।

विक्रम ने वाहवाही लूटने के विचार से कुएं पर दो पानी की टोटियाँ लगवा दीं। और कुंए की मुंडेर जो खस्ता हालत में थी, की लीपा-पोती करवा दी। चौगान के पीपल तले लकड़ी का छोटा सा मन्दिर बनवा दिया जहां बिना नागा शाम को कीर्तन और प्रवचन होने लगा। जबरू, विनोद का पुश्तैनी नौकर, पीलिये से पीड़ित हो शहर के हस्पताल में भरती हुआ तो हवेली से रोज उसके लिये आधा किलो दूध जाने लगा। जमीदारों की दरियादिली के पुराने पोथे खुल गये।

—राम सरन के बाप हरचरन जैसा दरियादिल जमींदार इलाके में

पैदा नहीं हुआ जनाब। किसी की बेटी की शादी हो खुद पहुंच इक्कीस रुपये सगन डालता। पुआल में बैठे लोग किस्से सुनाते।

पक्की सड़क के बारे में फैसला अभी हुआ नहीं था कि सरपंची के चुनाव आ गये। ध्याना और विक्रम सरपंच के चुनाव में जूझ पड़े। काफी तनाव के बीच चुनाव हुए। सामने की बिल्डिंग में गिनती हुई। विक्रम कुछ वोटों से जीत गया। उस रात गांव में शराब की छबील लगी।

ठाकुर रामरत्न दनदनाते हुए घूम रहे थे मूंछों पर ताव देते हुए——अब गिन-गिनके बदले न लिये तो कहना। कितने ही कारें स्कूटर आये, गोया यह सरपंच का चुनाव न होकर संसद सदस्य का चुनाव हो। विक्रम के हिमायती कामगरों ने छक कर पी। इस दरियादिली के चर्चे भी काफी अरसा लोगों की जुबां पर रहे। चौगान में अक्सर चर्चा होती।

—गरीबू, क्या लुत्फ आया था उस रोज।

— अरे विकरम महर जैसा शहनशाह कौन होगा? कहने लगा, पैसू पी जितनी चाहे।

—दरियादिली तो और भी जमीदारों की देखी, पर यह तो बाप को भी मात कर गया।

—क्या बढ़िया पूरी-छोले बने थे।

—सरपंची-बरवंची करना कोई खाला जी का बाड़ा है, कलेजा चाहिये। ये कोई गाजर, शकरकंदी थोड़े ही है कि मारो खुरपा और बाहर निकाल लो। इसमें देमाग, पैसा, वक्त खर्च होता है।

—अई, खर्च तो वही करेगा जिसके पल्ले होगा। हमारे जैसे टटपूंजिये क्या खाकर चुनाव लड़ेंगे?

—अरे चुनाव-वुनाव हमारे लिये थोड़े हैं। पैसू ने गरीबू की तान में तान मिलाई।

इस गांव में पहले दंगल होते थे बराबर के पहलवानों में किंतु अब वो जमाना नही रहा कि दंगल तो पहलवानों में हों और अखाड़ा वहां के कामगर बनाएं। दगलों की जगह कबड्डी ने ले ली है। टीमें उत्साह के साथ मैदान में उतरती है। एक का कोच ध्याना है तो दूसरे का विक्रम। आज शाम दोनों टीमों के बीच मुकाबला है। आजकल थोड़ी फुरसत के दिन हैं। कई दिनों से टीमों में खूब तैयारी हो रही है। लोगों की नजरें इसी मैच पर हैं। यहां वहां

उसी को ले बातें हो रही हैं। सुबह से रक्खू लौहार के चौंतड़े पर काफी गर्मा-गर्म बहसें हो चुकी हैं। बात कबड्डी से शुरू हो गाली-गलौज तक आ रुकती है। रक्खू बीच-बचाव कर देता है वरना तो कबड्डी से पहले ही बाक्सिंग हो जाए।

सारा गांव चौगान में इक्ट्ठा हो चुका है। कबड्डी शुरू होने वाली है। ध्याने के समर्थक एक ओर हैं तो विक्रम के दूसरी ओर। कुछ लोग पाड़े के आस-पास भी खड़े हैं जो एक बार ध्याने को तो दूसरी बार विक्रम को देख लेते हैं। विक्रम अन्य जमींदारों के संग कुर्सी पर विराजमान है और उसने धूप का चश्मा पहन रखा है। ध्याना अपने संगी साथियों के पास चौकड़ी मार कर मैदान पर बैठा है और उसके कंधे पर लाल परना है।

खिलाड़ी अपने अपने उस्तादों के पांव छू मैदान पर आ जुटे हैं। रंगू अपने व्यंग्य व कटाक्ष के लिये गांव भर मे मशहूर है, उस जैसा तीखा व चुभने वाला व्यंग्य कोई नहीं कस सकता। साधारण सी बात को व्यंग्य की चाशनी चढ़ाना उसे खूब आता है। खेल अभी शुरू भी नहीं हुआ कि उसने व्यंग्य के तीर छोड़ने शुरू कर दिये हैं।

—क्यों भई कबड्डी फ्रीस्टाइल होंगी या नेशनल। सारी भीड़ खिलखिलाकर हंस पड़ी। ध्याने के चुनाव को वह फ्रीस्टाइल मानता है तो विक्रम के चुनाव को नेशनल। फ्रीस्टाइल से उसका अभिप्राय ताकत से है और नेशनल का अर्थ है दांव चूंकि उसके विचार में विक्रम दांव से ही चुनाव जीत गया है

—नेशनल। कोई भीड़ में से बोला।

—हां भई, फ्रीस्टाइल के लिये तो कलेजा चाहिये और यहां तो कलेजी भी नहीं। रगू की आवाज विक्रम ने पहचान ली।

मैच शुरू हो चुका है। जीता कबड्डी कबड्डी करते हुए पाड़ा पार कर दूसरी ओर जा चुका है। उसे एक कदम आगे बढ़, दो कदम पीछे हटते देख किसी ने फब्ती कसी——हवेली नही मैदान है प्यारे।

कबड्डी......कबड्डी......गरीबू का दम टूटते देख, फिर कटाक्ष —खा पूरी, खा हलवा, दम बना दम। भीड़ जोर से हंसी तो विक्रम ने कटाक्ष करने वाले की तरफ देखा।

जमींदार के समर्थकों को एक भी अवसर नहीं मिल रहा व्यंग्य का जवाब देने का, पर वे इस ताक में हैं कि मौका हाथ लगे तो वे भी हिसाब चुकता करें। ध्याने की टीम के आगे उनकी एक नहीं चल रही।

क.........ब.........ड्.........डी। मेले हकीम का हाथ लाइन के बिल्कुल पास पड़ा और प्वांइट विक्रम की टीम को मिला तो आवाज आई —शिलाजीत खाईए-वैद जी। फिर हंसी का ठहाका।

मैच काफी तेज हो चुका है। कब किसी ने कबड्डी कबड्डी की, कब दम टूटा, पता नहीं चल रहा।

क......ब......ड्......डी।

ये बनी पक्की सड़क।

क......ब......ड्......डी।

ये बनी पक्की गली।

क......ब......ड्......डी।

ये लगा टयूब-वेल।

क......ब......ड्......डी।

ये खुला दवाखाना।

क......ब......ड्......डी।

ये खुल गया बैंक।

क......ब......ड्......डी।

वाह भइ रस-मलाई।

क......ब......ड्......डी।

भीड़ ठहाके पे ठहाके लगा रही है। विक्रम बुरी तरह तिलमिलाया और उसने आंखों पर से चश्मा उतार लिया। कटाक्ष उसके अंदर गहरे तक धंसते चले गये। पहले तो किसी तरह वह यह सब बर्दाशत करता रहा किंतु अब तो हद थी। सारे गांव के सामने उसे यूं जलील किया जाए, वह कसमसाया। सारी भीड़ की नजरें उस पर थीं। मुट्ठियां अपने आप तन गईं———यह बकवासबाजी नहीं चलेगी।

एक दम सन्नाटा छा गया है। भीड़ में कोई फुसफुसाया———भई छिकले बांध लो छिकले। आसपास के लोग दबी सी हंसी हंसे। विक्रम दनदनाता हुआ रंगू तक आया उसे गरेबां से पकड़कर तीन-चार घूंसे रसीद करते

हुए कहा——मजाक की भी कोई हद होती है। किसी ने विक्रम को सुनाते हुए कहा——गांव के साथ मजाक की भी तो कोई हद होगी। विक्रम ने पलट कर बोलने वाले को देखना चाहा पर वह कहीं भीड़ में खो गया था।

ध्याने की टीम लगभग जीत ही चुकी थी कि खेल रुक गया। बीच बचाव से झगड़ा तो रफा दफा हो गया पर रस-मलाई व विक्रम के सब्जबागों की चर्चा खूब रही।

रसमलाई से संबंधित घटना काफी अर्से तक तितली सी इधर उधर मंडराती रही। रक्खू लोहार की पुआल पर तो उसके कई संशोधित तथा नये संस्करण निकले। विक्रम के सरपंच बनने के बाद कामगारों का जमींदारों से पिटना रोज का नियम बन गया और उस पर तुर्रा ये कि कोई हवेली की बुराई भी नहीं कर सकता था। कारें स्कूटर जो कभी गांव वालों के लिये गर्व का विषय थे, अब उन्हें फूटी आंख भी न सुहाते। वे जब जी चाहता किसी के भी खेत से कुछ भी तोड़ लेते और बोये खेतों मे से कारें स्कूटर निकाल देते। वे जरा सा मना करते तो विक्रम दोनाली ले कर आ धमकता और वे किसी से कैसा भी भद्दा मजाक कर देते। विक्रम के यार-दोस्त राह जाती भीलू की लड़की को कार में डाल शहर में ले उड़े थे और जो आज तक नहीं लौटी। ध्याने, पंचू मैंनू आदि ने भीलू को बहुतेरा समझाया कि इस संबंध में थाने में रिपोर्ट दर्ज कर दी जानी चाहिए। पर उस पर तो दहशत सवार थी कि महर के पास तो डिप्टी, मैजिस्ट्रेट, थानेदार के लड़के आते हैं, वे हल्की सी आंख भी दबा दें तो उसकी टें बुला दी जाएगी। गांव वालों ने इस बात को ले काफी संघर्ष किया। भले ही वे विक्रन को जेल भिजवाने में कामयाब नहीं हुए चूंकि भीलू ने गलत-सलत ब्यान दे दिया था, फिर भी कड़ी चेतावनी के साथ उसकी दोनाली जब्त कर ली गई थी। एक दिन ध्याना, पंचू, मैंनू और रंगू हवेली के पास से गुजरे तो उन्होंने देखा कि हवेली के बाहर बैठा भीलू रसमलाई खा रहा था। वे बुरी तरह कट गए। पंचू के मन में आया कि साले को यहीं जमीन में सीधा गाड़ दे और रंगू ने तो उसका नाम ही रसमलाई रख दिया।

संतू और रतनू कंधों पर पल्लियां लटकाये और हाथों में दरांतियां लिए हाल ही में होने वाले पशु मेले के बारे में बातें करते हुए चौगान की तरफ जा रहे हैं। एकाएक रतनू की नजर सामने बद पड़ी टोटियों पर जा अटकी

तो वह पूछ बैठा ।

—क्यों वे संतू, अब चुनाव कब होंगे ?

—क्या पता, हर बार सुनते हैं कि दो महीनों बाद होंगे, पर होते-हवाते तो हैं नहीं । इतना कह संतू, ने कुएं की टूटी मुंडेर देखी तो मन वितृष्णा से भर उठा———ये है जमींदारों की सरपंची, कितनी बार कहा कि इसकी मुरम्मत करवा दो । पर उन्हें शराबनोशी से फुरसत मिले तब न । फिर सहसा वह रतनू से मुखातिब हुआ———कल ध्याना घर-घर फिर रहा था अठन्नी-अठन्नी चंदा इकट्ठा करने । चुन्नू की अम्मा के पास गया तो चुन्नू की अम्मा बोली, वे ध्याने जब इन हरामियों ने तुम्हें हराया है तो तू इनकी परवाह क्यों करता है ? चखने दे मजा महरों की सरपंची का, तो जानते हो उसने क्या कहा ?

———क्या कहा । रतनू ने कंधे पर से खिसकती पल्ली को ठीक करते हुए पूछा ।

———बोला, चाची जिंदगी में हार जीत तो रहती है, इससे क्या फर्क पड़ता है । सांझी तकलीफ तो सांझे से ही हल होगी ।

———संतू, एक बात गांठ बांध ले । ध्याने, पंचू, मैंनू चाहे हारें चाहे जीतें, लड़ेंगे तो हमारे लिये ही ।

———हां, यार, बात तो सही है तुम्हारी । फुलिया जो महरों की आरती उतारती नहीं थकती थी, की लड़की का विक्रम के आदमी उठा कर ले गये तो लगी ध्याने के घर आ स्यापा करने । मैं होता या तुम होते तो नहोरे देते, पर उसने उसे तसल्ली देते हुए कहा———घबरा मत, अभी थाने में रिपोट दर्ज करवा आयेंगे ।

———वई, मजूर के मजूर काम नहीं आयेगा तो और कौन आयेगा ।

———यही तो कहता हूं संतू, कि चाहे सिरहाने सोवो चाहे पैंताने कमर तो बीच ही आयेगी ।

बातें करते करते वे खुले चौगान तक आ गये हैं । रक्खू लोहार, अपने चौंतड़े पर बैठा लोहा पीट रहा है । धौंकनी की हवा से शोले और भड़क रहे हैं । खुरपे, दरातियां, फाले तैयार हो रहे हैं । कटाई जोरों पर है । औजार जितने तेज होंगे उतनी ही तेजी से फसल कटेगी, बंधेगी, गहाई जाएगी और तभी नसीब हो सकेंगे गेहूं के दाने ।

o